सद्‌शिष्य

इष्ट प्रेरणा से बहुत नया एवं बहुत आवश्यक विषय, जिसका नाम है **'सद्‌शिष्य'** प्रस्तुत कर रहा हूँ। **जो व्यक्ति सांसारिक विद्याओं को सिखाता है, जैसे तथाकथित शिक्षा, नृत्य, संगीत व अन्य प्रकार के भौतिक आयाम्, उसको कहा है गुरु और गुरु को चाहिए एक शिष्य।** प्रत्येक विद्या की गहनता के अनुसार शिष्य के कुछ मापण्ड होते हैं, जिनको प्रत्येक गुरु माप लेता है। अग्रेज़ी में गुरु का अनुवाद है Teacher, लेकिन **सद्‌गुरु** का अंग्रेजी भाषा में कोई अनुवाद नहीं है। **सद्‌गुरु सद्‌शिष्य को अन्तिम सत्य से अवगत् करवाता है।** अतः सद्‌गुरु को शिष्य नहीं बल्कि सद्‌शिष्य चाहिए, जो सत्य का जिज्ञासु हो एवं अन्तिम सत्य को जानना चाहता हो। यदि गहनता से विचार करें, तो सद्‌गुरु एव सद्‌शिष्य एक दूसरे की परिपूरक विधायें हैं। **जब कोई मानव वास्तव में सद्‌शिष्य बन जाता है एवं बन कर परिपक्व हो जाता है तो उसके सम्मुख सद्‌गुरु का प्रकट होना अवश्यम्भावी है।** यह एक ईश्वरीय सत्य है।

मैं मानव के सात स्तरों का वर्णन कर चुका हूँ। सबसे निम्न कोटि के मानव जिन्हें पशुनर कहा है, ईश्वर को मानते ही नहीं हैं, लेकिन वे मानव स्वरूप में होते हैं। न उनकी मर्यादा होती है, न कोई धर्म, न कोई कर्म और न ही जीवन का कोई उद्देश्य होता है। वे मात्र, पशुवत् जीवन जीते हैं और ऐसे ही मर जाते है, उन्हें कहा है **'पशुनर'**। उसके ऊपर दूसरी प्रकार है मानवों की, जिन्हें कहा है **'नर पशु'**। यद्यपि यह मानव भी पशुवत् ही होते हैं लेकिन जैसे कि कुछ पशु उपयोगी होते हैं मानव के लिए, उसी प्रकार ये मानव भी मानवों के लिए उपयोगी होते हैं। तीसरी प्रकार की मानवों की श्रेणी है **'व्यष्टि नर'**। इस स्तर के मानव ईश्वरीय सत्ता को मानने तो लगते हैं, लेकिन उनकी सम्पूर्ण मान्यता मात्र अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही होती है। चौथी, उससे ऊपर की कक्षा मानवों की है **'समष्टि नर'** जो ईश्वर को मानते हैं और वे मान्यता न केवल व्यष्टि के लिए होती है, बल्कि उनकी जाति के लिए, समाज के लिए, धर्म के लिए व देश के लिए होती है। लेकिन जहाँ पाँचवा प्रकार शुरु होना है वहाँ एक अद्‌भुत क्रान्ति, एक अद्‌भुत परिवर्तन आ जाता है मानवों की मानसिकता में, जिन्हें कहा

है **'जिज्ञासु नर'**। ऐसे महामानव ईश्वर की मान्यता को ईश्वर के बारे में जानने के लिए प्रयोग करते हैं। ईश्वरीय सत्ता क्या है 'मैं कौन हूँ? इस प्रकार के समस्त कौंधने वाले प्रश्न मानव के मन में उठने लगते हैं, सागर में उठने वाले ज्वार भाटा की नाईं। वे बेचैन हो जाते हैं और उस परम सत्य के बारे में जानने के लिए अपने जीवन की बाजी तक लगा देते हैं। उस परम सत्य को जानने से पहले **स्वयं को जानना** अति अवश्यक है। यदि कोई स्वयं को नहीं जानता, तो वह ईश्वर को भी नहीं जान सकता और यदि कोई स्वयं को जान गया है, ईश्वर कृपा से, सद्गुरु कृपा से एवं आत्म कृपा से तो उसमें और ईश्वर में बहुत थोड़ा सा अन्तर रह जाता है।

ऐसे महामानवों का जीवन 'जीवन काहे के लिए है' मात्र, इस उद्देश्य के लिए होता है। जिज्ञासानुसार वे अनेक प्रश्नों से भरे होते हैं। वे ईश्वर के बारे में जानना चाहते हैं। हे प्रभु! यदि तुम सच्चिदानन्द हो, सद्, चेतन एवं आनन्द तीनों का अविरल, अकाट्य एव विलक्षण संगम हो तो मैं स्वयं ऐसा क्यों नहीं हूँ? मैं जन्म–मृत्यु के चक्कर में क्यों पड़ता हूँ? यदि तुम विशिष्ट विभूतियों से विभूषित हो जैसा कि परम ज्ञान, सौन्दर्य, शक्ति, ख्याति, ऐश्वर्य एव त्याग के संगम हो तो मैं भयभीत, त्रसित और विक्षिप्त क्यों होता हूँ? यदि तुम हर्ष, उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता के सागर हो, कृपा के सागर हो, क्षमा के सागर हो, तो मैं ऐसा क्यों नहीं हूँ? यदि तुम खुदा हो, खुले हुए हो, तो मैं बंधा हुआ क्यों हूँ? मैं बन्दा क्यों हूँ? यदि तुम धर्मातीत, कर्मातीत, माया के तीनों गुणों से अतीत, कालातीत, देहातीत, देशातीत हो तो मैं धर्मों, कर्मों में क्यों उलझा हुआ हूँ? मैं क्यों कर्त्तव्यों में बँधा हुआ हूँ? यदि तुम कालातीत हो तो हे महाकालेश्वर ! मैं काल के अधीन क्यों हूँ, यदि तुम साकार हो तो सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में तुमको एक ही नाम और रुप में क्यों नहीं जाना जाता? यदि तुम निराकार हो तो समरत महाब्रह्माण्ड में जितने भी आकार निर्मित है, वे किसकी कल्पना है? किसने बनाए है वे।

यह जन्म क्या है, मृत्यु क्या है, सुषुप्ति क्या है? जबकि आज तक किसी ने अपना जन्म होते नहीं देखा, अपने आपको मृतक नहीं देखा। किसी ने स्वयं को मूर्च्छित नहीं देखा तथा स्वयं को किसी ने सुषुप्ति में नहीं देखा। तो ये मात्र मेरी कोरी कल्पनायें हैं या इसमें सत्य भी है? इस प्रकार के प्रश्न जब ज्वारभाटा बन कर इसके मन–मस्तिष्क में

कौंधते हैं, वो स्वयं बेचैन हो जाता है। इनका उत्तर ढूँढना चाहता है। जन्म क्या है? कर्म क्या है? कर्त्तव्य क्या है? पुण्य क्या है? पाप क्या है, पुण्य और पाप का निर्माता कौन है? यदि तुम महाकर्ता हो तो पुण्य–पाप क्यों बनाये गये हैं। यदि पुण्य–पाप तुमने बनाए हैं तो उसे मैं क्यों भोगता हूँ? यदि मैं पुण्य–पाप का निर्माता हूँ तो इसकी शक्ति कहाँ से मिलती है मुझे। संसार की मान्यतायें क्या है? सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड मेरे अपने नामरुप पर आधारित हैं। मेरे सगे–सम्बन्धी, माता–पिता, भाई–बहिन, पति–पत्नी, संतान, मेरा देश, मेरा धर्म, मेरा कर्म और मेरी तथाकथित डिग्रियाँ इत्यादि समस्त मेरी मान्यता पर ही आधारित है। यदि मेरी मान्यताओं में इतना बल है, तो मैं उनमें क्यों उलझ जाता हूँ। तो क्या मैं तुम्हें मान्यता नहीं दे सकता? क्या मैं तुम्हारे साथ सम्बन्ध नहीं बना सकता? हे महाप्रभु ! यदि मैं तुम्हारे साथ सम्बन्ध स्थापित करता हूँ, तो इसमें औचित्य क्यों नहीं है? तुम्हारे तक आने का मार्ग कौन सा है? यदि कोई मार्ग है तो वह एक ही मार्ग क्यों नहीं है? उसके मील के पत्थर क्या है और यदि कोई मार्ग नहीं है तो मुझे मेरी मंजिल क्यों नहीं दिखाई देती? माया क्या है? जप क्या है, तप क्या है ऐसे असंख्य प्रश्न किसी महामानव के हृदय में, उसके मस्तिष्क में विस्फोट करने के लिए पर्याप्त होते है, उस समय उसे कहा है **जिज्ञासु**।

इन प्रश्नों का उठना ही काफी नहीं है, इन प्रश्नों के उत्पन्न होते ही उसका भीतरी और बाह्य जगत बदलना शुरू हो जाता है। उस ईश्वरीय सत्ता के बारे में जानने की जिज्ञासा इतनी तीव्र हो जाती है कि उसमें कुछ लक्षण प्रकट होने लगते हैं जिनका मैं वर्णन कर रहा हूँ। वे ही लक्षण सद्गुरु में भी प्रकट होते हैं। लक्षणों में यद्यपि कोई भेद नहीं होता लेकिन उनके कारणों में अवश्य भेद होता है।

सद्शिष्य उदास रहना शुरु हो जाता है। एक अविरल सी उदासी उसके मन–मस्तिष्क पर छाई रहती है कि संसार क्या है? मैं क्या कर रहा हूँ? वह कुछ पाना चाहता है। उस परम सत्य को पाने की इच्छा उसको सदा उदास रखती है। अपने उस सच्चिदानंद स्वरूप के साथ वह स्पर्श चाहता है और उस स्पर्श की परम इच्छा उसको उदास रखती है। **सद्गुरु** भी उदास रहता है। वह अपने सत्य को पाने के पश्चात् इस संसार की निस्सारता को जब देखता है तो उदास हो जाता है–

फूल के आस–पास रहते है, फिर भी कॉटें उदास रहते हैं,
चन्द लम्हात की खुशी के लिए लोग बरसों उदास रहते हैं।

उसे कुछ क्षण चाहिए जब वह अपने परम प्यारे सच्चिदानंद स्वरूप का सान्निध्य पा सके। सब कुछ होता है उसके पास–

यूँ तो तेरे बगैर मुझे कुछ कमी नहीं,
यह और बात है कि मयस्सर खुशी नहीं।
जिस ज़िन्दगी पे नाज़ है इतना हुज़ूर को
उस ज़िन्दगी का क्या है अभी है, अभी नहीं।

मेरे पास सब कुछ है, सुख है, साधन है, लेकिन तेरे बिना खुशी नहीं है। मुझे इतना सुन्दर जीवन देने वाले यह तो बता कि इस जीवन का महातम क्या है जो अभी है, अभी नहीं है। एक अज्ञात सा गम, एक खमोशी सी उसके हृदयपटल पर छाई रहती है। सांसारिक कार्यों में उसका मन नहीं लगता। वह निकम्मा सा हो जाता है–

इश्क ने गालिब निकम्मा कर दिया,
वरना हम भी आदमी थे काम के।

संसार के किसी भी भौतिक कार्य में उसकी रुचि नहीं रहती। याद वह करता भी है तो अनमाने हृदय से करता है और अन्ततः वह उनसे विलग हो जाता है। गुरुनानक देव महाराज को जब इनके पिता ने एक दुकान खुलवा दी तो शाम तक उस दुकान का सारा सामान इन्होंने वितरित कर दिया 'तेरा–तेरा' कह कर। मुफ्त में ही सब कुछ बाँट दिया। सांसारिक कार्यों में या धन इत्यादि कमाने में उसकी कोई रुचि नहीं रहती।

तीसरा लक्षण, जो सद्गुरु में प्रकट होता है वह है उसको अक्सर लोग **असमाजिक** कहना शुरू कर देते हैं। वह अपने विचारों और उनकी गहनता में ही डूबा रहता है। किसी के मरने पर उसको शायद ग़म नहीं होता। सांसारिक लोग उसको बुरा मानते हैं। विवाह–शादियों में उसको बधाई देने की इच्छा नहीं होती कि, 'यह सब कुछ है क्या' तो ऐसे लोग अक्सर असमाजिक कहे जाने लगते हैं, जबकि वह परम सत्य के जिज्ञासु होते हैं। कोई औपचारिकता नहीं होती उनमें। ऐसे व्यक्ति अक्सर आलोचना का विषय बने रहते हैं। सबसे मिलना पसन्द नहीं करते। उनको मात्र वही लोग चाहिये

जिनसे वह अपने परम प्यारे ईश्वर की बात कर सकें। ऐसे व्यक्तियों को सगे–सम्बन्धी एवं रिश्तेदार न जाने किन–किन संज्ञाओं और विशेषणों से पुकारने लगते हैं। एक निठल्लापन सा आ जाता है उनमें। एक फकीरी की स्थिति–

चाह गई चिन्ता गई मनुवा बेपरवाह
जिसको कुछ न चाहिए वो शाहों के शाह।

एक मस्ती होती है। जिस हाल में वह होते हैं उसमें मस्त होते हैं। उनको कुछ नहीं चाहिए होता। तो ऐसी स्थिति में ऐसे साधक, ऐसे जिज्ञासु, संसार से अलग–थलग से हो जाते हैं। कोई भी सांसारिक आकर्षण उनको प्रभावित नहीं करता। यह लक्षण जब उनमें प्रकट हो जाते हैं, तब वह परिपक्व सद्शिष्य बन जाते हैं।। **जब किसी सद्शिष्य में परिपक्वता आ जाती है, तो सद्गुरु उसके सन्मुख अवश्य प्रकट हो जाता है।** वास्तव में यदि आप इतिहास देखें तो फकीर ही सदा लालायित रहा है मुरीद को पाने के लिए। रामकृष्ण परमहंस को जब सुन्दर बालक नरेन दिखाई दिया, तो वह पागल हो गए, उसके पीछे और सब प्रकार की सिद्धियाँ उसके सामने रख दीं कि, एक बार तुम मुझे अनुसरण कर लो, एक बार मेरे शिष्य बन जाओ। क्योंकि उनकी दिव्य दृष्टि ने उस बालक में सम्पूर्ण परिपक्व सद्शिष्य की स्थिति को भाँप लिया था। यही बालक नरेन बाद में एक उत्कृष्ट, विलक्षण, आध्यात्मिक जगत का विख्यात एवं प्रचंड विद्वान **स्वामी विवेकानंद** के रुप में उजागर हुआ जिसने सम्पूर्ण विश्व को अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों से दैदीप्यमान कर दिया।

इसी प्रकार स्वामी विवेकानंद को लाहौर मे प्रवचन देते हुए एक दूसरे महा सद्शिष्य की प्राप्ति हुई, जिसका नाम था **प्रोफेसर राम**, जो बाद में स्वामी **राम तीर्थ** के नाम से वेदान्त जगत का उत्कृष्टतम् सूर्य बन कर पूरे विश्व में चमका। इसी प्रकार गुरु नानक देव जी महाराज ने अपना परम शिष्य **लहना** को बनाया। अपने दोनों पुत्र में से किसी को गद्दी नहीं दी। फकीर हमेशा मुरीदों के पीछे भागे हैं। अर्थात् जब सद्शिष्य परिपक्व हो जाते हैं, तो उनके सन्मुख सद्गुरु अवश्य प्रकट हो जाता है।

सद्शिष्य और सद्गुरु में मात्र कुछ औपचारिकतायें सी होती हैं अन्यथा कुछ नहीं होना। सद्गुरु के पास जब सद्शिष्य पहुँच जाता है, तो वह उसको जाँच लेता है।

उसके बाद सद्शिष्य श्रवण करता है। यहाँ यह बात बहुत आवश्यक समझने की है कि, गुरु स्वयं कभी ज्ञान नहीं देता। वह सद्शिष्य के भीतर के स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप को जागृत करता है। क्या किसी माचिस की एक तीली के जलने से हम खाना बना सकते हैं? माचिस की तीली जब चूल्हे को जलाती है, तो उस पर ही खाना पकता है। **गुरु मात्र, अन्दर के ज्ञान को प्रज्जवलित करने के लिए एक माचिस की तीली की चिंगारी का काम करता है। ज्ञान तो भीतर होता है।** जो तथाकथित ज्ञान, श्रवण द्वारा गुरु अपने शिष्य के कर्णों में डालता है। उसकी भी एक कार्यविधि है। सद्शिष्य जो कुछ भी गुरु के श्रीमुख से सुनता है, उसे श्रवण कर, विचार एव चिंतन करता है। जब उसकी बुद्धि उस सत्य से संतुष्ट हो जाती है, तो उसके बाद उस सत्य को **मन** के पास भेज दिया जाता है। **मन** उस पर **मनन** करता है। मनन् के पश्चात् उसका **नित्याध्यासन** होता है। बार–बार उस सत्य पर मन की मोहर लगती है और उसके बाद सद्गुरु और इष्ट कृपा के बाद वह ज्ञान सिद्ध हो जाता है। यहाँ पर यह जानना आवश्यक है, कि जो ज्ञान श्रवण द्वारा सद्शिष्य ने सुना, वह ज्ञान मात्र भीतर के ज्ञान स्वरूप को प्रगट करने के लिए चिंगारी का काम करता है। वास्तव में जब तक उसका ज्ञान स्वरूप प्रकट नहीं होता, तो कानों द्वारा सुने गए ज्ञान के विचार का, चिंतन का, मनन का, मान्यताओं का और उसके नित्याध्यासन का स्वयं में कोई अर्थ नहीं होता। वह ज्ञान जो सद्गुरु के श्रीमुख से निकल कर शिष्य के कर्णों में जाता है, वह मात्र एक चिंगारी का काम करता है। **वास्तव में हमारा स्वरूप ही ज्ञानमय है और सद्गुरु उसको प्रगट करता है प्रस्फुटित करता है।**

जितना भी भ्रम है इस विश्व में वह न तो अंधकार में है और न प्रकाश में है। आप मेरी बात से सहमत होंगे कि घोर अंधकार हो तो हमें कुछ दिखाई ही नहीं देता, किसी चीज़ के भ्रम होने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता और जब महाप्रकाश हो, तो सम्पूर्ण जगत की प्रत्येक वस्तु हमें दृष्टिगोचर हो जाती है। भ्रम वहाँ होता है जहाँ न प्रकाश होता है और न अंधकार। रज्जू और साँप में वही भ्रम हो जाता है। गुरु मात्र वहाँ प्रकाश डाल देता है स्पष्टीकरण करने के लिए। तो सद्शिष्य की इस भ्रमित सी स्थिति को सद्गुरु अपने ज्ञान द्वारा प्रकाशित कर देता है।

सद्‌गुरु का विशेष कर्म यही रहता है कि सद्‌शिष्य के मानस पर पड़े हुए भ्रम को दूर कर दे और उसके हृदय के भीतर उसके सत्य स्वरूप को जाग्रत कर दे। **सद्‌गुरु न कभी किसी से बँधता है न वह किसी को बाँधता है,** क्योंकि सद्‌मार्ग एक खुला मार्ग है, खुदाई मार्ग है। यदि उस खुले हुए के ज्ञान को प्राप्त करना है, तो बंधन का क्या अर्थ है ? सद्‌गुरु अपने सद्‌शिष्य को कभी नहीं बाँधता। **सद्‌गुरु वह निर्देशक है, जो अपने शिष्य को सत्य से अवगत्‌ करवाता है।** सद्‌ **अर्थात्‌ सत्य। परम सत्य क्या है? उस परम सत्य के द्वार तक जो अपने सद्‌शिष्य को पहुंचाने में सक्षम है, वही सद्‌गुरु है। तो सद्‌गुरु के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं उस परम सत्य को अनुभूति में ला चुका हो।**

सद्‌गुरु तीन प्रकार के होते हैं। **प्रथम,** वो जिनको **स्वयं सत्य से कुछ लेना देना** नहीं होता और बहुत सुन्दरता से यह आडम्बर करते हैं, कि वे सत्य को दिग्दर्शित करवा सकते हैं। वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं और उनके पीछे लगने वाले भी नष्ट हो जाते हैं। उन्हें कहा है तथाकथित **सद्‌गुरु। दूसरे** वे हैं जो **स्वयं सत्य का अनुभव** कर चुके होते हैं, लेकिन किसी को बता नहीं सकते। उस परम सत्य को अनुभव नहीं करवा सकते और **तीसरे,** वे हैं जो **स्वयं भी अनुभव कर चुके होते हैं और अपने शिष्य को भी अनुभव करवा सकते हैं।** उन्हें कहा है **समर्थ गुरु,** जो उस परम सत्य के दिग्दर्शन के लिए समर्थ होते हैं। **सद्‌गुरु कभी मार्ग नहीं बताता। वह यह बताता है कि तुम मंज़िल पर हो, मंजिल पर पहुँचने के बाद मार्ग शुरु होता है। मंजिल ही मोक्ष है एवं मोक्ष के विभिन्न मार्ग हैं।**

।। जय जय श्री राम।।

मानसिक स्वरूप

आज अपने आराध्य देव, प्रभु श्री हनुमान जी की दिव्य प्रेरणा से आपके सम्मुख अति गोपनीय विषय का रहस्य खोलने जा रहा हूँ। आप सबकी एकाग्रता चाहूँगा। यह विषय इस ओर इंगित करता है, कि संसार में मानव जब आता है, तो **उसके जगत का प्रारूप कौन निर्धारित करता है, उसके आत्म स्वरूप या मानसिक स्वरूप का निर्माण कैसे होता है और वह कार्यान्वित कैसे होता है। जन्मों–जन्मातरों में इसकी गतियाँ क्या हैं,** इन सभी पहलुओं पर विचार होगा। आज सम्पूर्ण मानव जगत के विभिन क्षेत्रों में, उद्योगों में, युद्ध में, तथाकथित शिक्षा व तकनीकी में, आतंक में, अत्याचारों में, प्रदूषण में व अन्य स्थितियों में जितना भी हो–हल्ला है, इसका मानव के मानसिक स्वरूप से क्या सम्बन्ध है? यदि हम इस पर विचारपूर्वक विश्लेषण एवं चिन्तन करें, तो हम पायेंगे कि **बाह्य जगत, मात्र मानव के मानसिक स्वरूप का ही उचित समय पर बाह्य प्रगटीकरण है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।**

उदाहरण के लिए **भय** को ले लीजिए। भय का कारण क्या है? मानव अपने मन द्वारा किसी घटना को एक कल्पित आकार दे देता है, कि अमुक समय पर उसे अमुक हानि हो जायेगी। उस घटना के स्वरूप में उसका सम्पूर्ण बह्माण्ड होता है। उसकी सहायता करने वाले होते हैं, उसको हानि देने वाले होते हैं और उन सबमें उस हानि के भोक्ता के रूप में वह **स्वयं भी** होता है। उसका सम्पूर्ण सूक्ष्म मानसिक स्वरूप वह निर्मित कर देता है और उस मानसिक स्वरूप के अनुसार जब वह घटना घटित होती है, तो उससे उसके मानस पटल पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी कल्पना वह पहले ही कर चुका होता है। प्रत्येक मानव, अपनी परिस्थिति के अनुसार **अपना विशेष जगत** रचता है। उस जगत मे वह **स्वयं** भी होता है और **सम्पूर्ण संरचना** उसकी अपने **मानस** की होती है।

यह बहुत महत्वपूर्ण विषय है। इसका सरलीकरण करने के लिए मैं जीवन बीमा का एक उदाहरण दे रहा हूँ कि अमुक समय पर यदि अमुक दुर्घटना हो जाये या जीवन में हानि हो जाये तो उसकी तथाकथित भरपाई के लिए बीमा किया जाता है और अक्सर

बीमा करवाते ही उस दुर्घटना अथवा उस हानि का एक मानसिक स्वरूप बन जाता है। मानसिक स्वरूप पूर्णतया किसी मानव मन की परिकल्पना होती है। अधिकतम परिकल्पानाएं निरर्थक होती हैं। निरर्थक ही नहीं, बल्कि नकारात्मक होतीं हैं और उस अपने बनाये हुए नकारात्मक विश्व की संरचना में वह मानव स्वयं भी होता है। लेकिन कभी विशुद्ध संकल्प की मोहर उस पूरी संरचना पर लग जाये तो उचित देश, काल व परिस्थिति में वह घटना घटित हो जाती है और उस घटना के घटित होते ही वह निराश हो जाता है एवं अन्य प्रकार की मानसिक व्याधियों से ग्रसित हो जाता है, जो उसने स्वयं निर्मित की थी।

शिशु उत्पन्न होता है, माता–पिता उसके भविष्य की कल्पना कर लेते हैं, कि अमुक–अमुक समय पर उनका बालक ऐसी विद्या ग्रहण करेगा, ऐसे स्थान पर इसकी शादी होगी, ऐसा व्यवसाय करेगा, इत्यादि। यह मैं इसका दूसरा पहलू बता रहा हूँ। उस समय, उनकी कल्पनाओं के अनुसार यदि वह बालक या बालिका नहीं उतरती, तो उनको एक निराशा हो जाती है। उस निराशा का कारण उसका स्वतः रचित वह मानसिक स्वरूप ही होता है। उपरोक्त उदाहरणों से आपको स्पष्ट हो चुका होगा, कि जीवन का सम्पूर्ण प्रवाह एक मानसिक स्वरूप के अनुसार ही चलता है, जो वास्तव में मानव का एक सूक्ष्म जगत है, जिसमें वह स्वयं भी होता है। कभी न कभी वह एक स्वरूप की परिकल्पना कर लेता है, जैसे कोई व्यापार या उद्योग शुरू करने से पहले, उससे अमुक समय के बाद होने वाले लाभ की कल्पना कर लेता है और अपने उस लाभान्वित स्वरूप से उसके मन में एक उल्लास जाग्रत हो जाता है। कोई लाटरी का टिकट लेकर लाटरी निकलने के बाद उसकी जो प्रसन्नतापूर्वक स्थिति होगी, उसकी परिकल्पना कर लेता है। किसी भी घटना के घटित होने से पहले उसने अपने एक स्वरूप का निर्माण कर लिया और यदि ईश्वर इच्छा से घटना घटित होने के बाद वह स्वरूप उसकी कल्पना के अनुसार नहीं बना, तो वह व्यक्ति निराश हो जाता है। यदि उसने अपने उस स्वरूप की परिकल्पना नहीं की होती, तो उसको निराशा कभी न होती। तो यह निराशा, यह उल्लास, भय, विक्षेप, अवसाद की सारी घटनायें किसी मानव के अहं से ही निर्मित होती है, जिसमें वह समय आने पर स्वयं उलझ जाता है। जबकि

सत्य यह है कि जीव का हर पल, हर क्षण मात्र **ईश्वर इच्छा** से चलता है।

यह सत्य है कि हमारा अगला आने वाला श्वास हमारे हाथ में नहीं है, तो इससे स्पष्ट है कि उस श्वास में होने वाली मानसिक, बौद्धिक अथवा शारीरिक कोई भी क्रिया हमारी हो ही नहीं सकती। वह देव इच्छा से हो रही है, तो उस क्रिया पर हम अहम्वश अपनी मोहर लगाने वाले होते कौन है? उस क्रिया का स्वरूप धारण, उस सम्पूर्ण सूक्ष्म जगत का निर्माण, पालन और संहार मात्र ईश्वरीय शक्तियों के कारण ही हो सकता है। यहाँ पर यह जानना अति आवश्यक है, कि सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड की जितनी भी गतियाँ हैं, निर्माण, पालन व संहार वे मात्र ईश्वर इच्छा से ही सम्पादित होती हैं। लेकिन अज्ञानतावश मानव उसको अपना मान लेता है, कि यह मैं कर रहा हूँ, यह विचार मेरा है, मैं अमुक–अमुक समय पर यह करूँगा इत्यादि। वह अपने ही जाल में मकड़ी की तरह फँस जाता है। यह सम्पूर्ण प्रकरण जीवन भर चलता रहता है।

किस समय मृत्यु का आगमन होगा, यह किसी को ज्ञात नहीं है। वह परिकल्पित अवधारणायें, हमारा मानसिक स्वरूप जिसमें विशेष समय, विशेष व्यक्तियों का और परिस्थितियों का एक समूह होता है, जिसमें हम स्वयं भी होते हैं। यदि उस घटना के घटित होने से पहले ही शरीर छूट जाये, मृत्यु आ जाये, तो वही आसक्तियाँ अथवा घटनायें जन्मों–जन्मान्तरों में हमारे देह धारण करने का कारण बन जाती हैं। इस काल चक्र का सम्पूर्ण प्रकरण, सम्पूर्ण क्रियायें और बार–बार निरर्थक सी दौड़ मानव के मात्र मानसिक स्वरूप की परिकल्पनाओं और उन परिकल्पनाओं की ईश्वरीय स्वीकृति पर आधारित हैं। बहुत विस्तृत विषय है, इस पर आप यदि शान्त हृदय से विचार करें, तो आपको अपने जीवन में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का कारण समझ में आ जायेगा।

अब प्रश्न उठता है, कि हम इन घटनाओं से मुक्त कैसे हों ? अवसर बुद्धिजीवी मानवों की बुद्धि न केवल निरर्थकता की ओर बल्कि नकारात्मकता की ओर दौड़ती है। किसी भी विचार के साथ वे नकारात्मकता का पुट अवश्य दे देते हैं। हम इस परम सत्य को ग्रहण कर लें, कि प्रत्येक श्वास, प्रत्येक पल व क्षण उस ईश्वर की कृपा से ही चलता है और चल रहा है। उसमें होने वाली प्रत्येक मानसिक बौद्धिक अथवा शारीरिक क्रिया, मात्र ईश्वर शक्ति से ही चलती है। **इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल**

ईश्वर ही हैं। अक्सर हम ईश्वर को इच्छापूरक मान लेते हैं। लेकिन इच्छुक कौन है? वह भी स्वयं ईश्वर ही होते हैं। यदि ईश्वरीय शक्ति न हो तो इच्छुक कौन होगा? क्या कोई मृतक देह इच्छुक हो सकती है?जब इच्छुक स्वयं ईश्वर हो जायेंगे, तो इच्छा भी ईश्वर की होगी, इच्छापूरक भी वे स्वयं होंगे और इच्छाफल भी वे स्वयं ही निर्धारित करेंगे। लेकिन हम अर्धसत्य को ग्रहण करते हुए इस प्रकरण के कुछ अंशों को अहम्‌वश अपना मान लेते हैं। वहीं पर हम अधूरे रह जाते हैं। यदि सम्पूर्ण प्रकरण को ईश्वर समर्पित कर दिया जाये, तो हम इस मानसिक स्वरूप की परिकल्पनाओं और उनके साक्षात् स्वरूप धारण करने के कारण हुई निराशा व अन्य प्रकार की मानसिक व्याधियों से बच सकते हैं। यह एक परम सत्य है।

सुबह उठकर अपने इष्ट के सम्मुख ह्रदय से यह प्रार्थना करें कि, हे प्रभु। यह सम्पूर्ण देह, जीवन का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पल, प्रत्येक गति व प्रत्येक श्वास आपका है। हे प्रभु ! आज के दिन जो भी कार्यक्रम हो, उन सबको आप ही सम्पादित करें। सोने से पहले आपने जो कुछ भी दिन भर किया, उसको ईश्वर निमित्त कर दें, कि प्रभु ! जो कुछ भी करवाया है, आपने ही करवाया है, और उस धारणा में जब आपको एक शान्ति का अनुभव हो, उसके बाद आप शयन के लिए जाएं, तो आप इस जंजाल में कभी नहीं फसेंगे। इस अहम् के द्वारा निर्मित सृष्टि के जाल से बचना बहुत आवश्यक है, नहीं तो यह संसार की वस्तुएँ और आपकी तथाकथित उपलब्धियाँ आपको कभी सुख, भोग या आनन्द नहीं दे सकतीं। यह नितान्त सत्य है।

जीव जन्मों–जन्मातरों में भटकता रहता है। उसका मानसिक स्वरूप उसको टिकने नहीं देता। हमारा मानस पटल जो जन्मों–जन्मान्तरों के अहं से निर्मित हो चुका है और जिसका मात्र एक ही कार्य है, कि कुछ न कुछ परिकल्पित करते रहना, तो हम इसकी एक–एक घटना से किस प्रकार सुरक्षा करें ? उसका एक बहुत सरल सा उपाय मैं आपको बता रहा हूँ। यदि यह सत्य है कि आपके मानस में होने वाली प्रत्येक क्रिया को क्रियान्वित करने के लिए ईश्वरीय शक्ति ही चाहिए, बिना उसकी शक्ति के कोई परिकल्पना नहीं हो सकती और यदि हो भी जाये, तो उसका स्वरूप धारण नहीं हो सकता, तो क्यों न हम अपने मानस को उस ईश्वरीय मन में समर्पित कर दें, उसके

साथ समाहित कर दें। उसके लिए हमें अपने इष्ट के चरणों में बैठना अति आवश्यक है। यह विषय उन महामानवों के लिए है, जो जीवन में कुछ सार्थक करना चाहते हैं, स्वयं के लिए के लिए और आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए। उनको सावधान होना होगा। उनका मन जब ईश्वरीय मन में समाहित हो जायेगा, तो उसमें उठने वाली प्रत्येक धारा, प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक विचार और उन विचारों का स्वरूप, वह ईश्वर इच्छा से ही सम्पादित होंगे।

जब ईश्वर इच्छा से कोई कार्य शुरू होता है, चलता है व समाप्त होता है, तो वह **आनन्द** में ही होता है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं होता। उस भाव से किये गये कार्य मानव को आनन्दित करेंगे ही, बल्कि उनके प्रभाव का संसार में अन्य मानव भी युगों–युगों तक आनन्दमय रसास्वादन करेंगे। ऐसे मानव जब पृथ्वी से लोप हो जाते हैं, तो समय रूपी रेत पर वे अपने पद्चिन्ह छोड़ जाते हैं। वे पद्चिन्ह जिन पर एक–एक पग ईश्वर इच्छा से रखा गया होता है और पीछे आने वाले मानवों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत बन जाते हैं। जो पग मानव इच्छा से रखे जाते हैं, उनको मिटते ज्यादा समय नहीं लगता, भले ही वो थोड़े से काल के लिए अपने बौद्धिक बल, शारीरिक बल, मानसिक बल व अपनी अन्य भौतिक शक्तियों का प्रदर्शन कर दें।

जब भी कोई मानसिक स्वरूप बनता है, उसमें सकारात्मकता तथा आनन्द का, उसके बनते ही उसी क्षण आपको भास हो जायेगा। कामवश, क्रोधवश, लोभवश, मोहवश व अहम्वश अपने हृदय को क्षणिक तृप्त करने के लिए हम न जाने कितनी भयानक परिकल्पनायें कर बैठते हैं और वही कल्पनायें जब अपना साकार रूप लेती हैं, तो हमारा हृदय कम्पित हो जाता है। हम भयभीत हो जाते हैं। हमारा परिवार छिन्न–भिन्न हो जाता है। उसके पीछे मानव की विकृत बुद्धि व मानसिकता का बहुत बड़ा योगदान होता है, जिसका मैं बार–बार वर्णन कर रहा हूँ। चाहे वह विकृत या सुकृत मानसिकता का ही कल्पित जगत क्यों न हो, उसको कार्यान्वित करने व साक्षात् प्रकट करने के लिए ईश्वर शक्ति का होना अति आवश्यक है। बिना ईश्वर शक्ति के कोई भी घटना साकार रूप लेकर आपके सम्मुख नहीं आती। यदि इस सत्य को हम पकड़ लें, तो हम बहुत सुखद और आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं। प्रभु हमे खिला रहे हैं तो क्यों न हम

आनन्दपूर्वक खेलें। वह खेल हमारी अनुभूति बन जाये, स्मृति नहीं। यहाँ पर **स्मृति** और **अनुभूति** में अन्तर है। स्मृति और अनुभूति का अन्तर जानना बहुत आवश्यक है। **स्मृति भौतिक है, जबकि अनुभूति आध्यात्मिक**। जहाँ **स्मृति** रहेगी तो समझिये वहीं पर आपका **बौद्धिक योग** है परन्तु जहाँ **अनुभूति** होगी, वह **ईश्वरीय इच्छा** है। जितना भी हार्दिक आनन्द है, **वह अनुभूतियों का है स्मृतियों का नहीं है**। क्योंकि स्मृतियों द्वारा निर्मित जगत मानवीय मन द्वारा ही परिकल्पित होता है और जो **अनुभूतियों द्वारा प्रकट होता है, वह ईश्वरीय होता है।** ईश्वर ऐसे मानवों को अपना लेते हैं और ऐसे उत्कृष्ट कार्य करवाते हैं, कि जो मानव की स्वयं की परिकल्पना से परे होते हैं। उन घटनाओं के घटते ही एक उल्लास उत्पन्न होता है। इसलिए अपनी मानविक बुद्धि एवं मन को ईश्वर समर्पित कर दें, ताकि जिस महाप्रभु ने इनका निर्माण किया है, वे ही इनका प्रयोग करें और उसके लिए सबसे बड़ा प्रकरण, जो अमोघ शक्ति है वह है **नाम–जाप**।

।। जय जय श्री राम।।

दिव्य विवाह एवं उत्तम संतान

आज की संध्या में इष्ट प्रेरणा से आपके सम्मुख कुलीन एव सर्वोकृष्ट विवाह पद्धति उसके परिणाम, अति शुभ संतान, उसमें माता–पिता का योगदान व उसके आध्यात्मिक पहलू के बारे में कुछ विचार रखूँगा।

पहले हमको यह जानना अति आवश्यक है, कि किस परिवार को व किस व्यक्ति को कुलीन कहा जाता है? **जो व्यक्ति अथवा जो परिवार संयमित है, इन्द्रिय निग्रह का जहाँ महातम है, जहाँ नित्य स्वाध्याय होता है, जहाँ शान अर्जन करने की जिज्ञासा बनी होती है, जहाँ पर यज्ञ–हवन इत्यादि नित्य होते हैं जहाँ के विवाह मर्यादाओं से और संस्कारों से शुद्ध होते हैं, जहाँ पर नित्य दान और विशेष कर अन्न दान दिया जाता है और जहाँ व्यक्ति सदाचारी होते हैं, वे परिवार कुलीन कहे जाते हैं।** वास्तव में देखा जाये तो विशुद्ध भारतीय संस्कृति ऐसी परम्पराओं, ऐसे व्यक्तियों और कुलीन परिवारों पर ही आधारित है। आज भी उन परम्पराओं और उन संस्कारों के अंश हम सभी में विद्यमान हैं, खोये नहीं हैं। आज मैं विवाह के विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार रखूँगा। विवाह की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

कोई भी मानव जब धरा पर आता है, तो यही आते ही उसके ऊपर **तीन ऋण** स्वतः ही होते हैं। **पितृ ऋण, देव ऋण और ऋषि ऋण**। पितृ ऋण क्या है? कि जिस माता–पिता की कृपा से हम उत्पन्न हुए हैं, आगे हमारा भी यह कर्त्तव्य बनता है कि सुसंस्कृत संतान उत्पन्न करें, जो हमारे से अधिक सद्‌गुणों से और अन्य समस्त शक्तियों से परिपूरित हों। यह है पितृ ऋण का चुकाना। साधारणतया जीवन में आप देखते हैं कि, जब किसी से धन उधार लेते हैं, तो मूलधन को ब्याज सहित लौटाया जाता है। हमारे माता–पिता की कृपा से, प्रार्थनाओं से व उनकी प्रेरणाओं में हमें जो संस्कार व सद्‌गुण मिले हैं, हम अपनी संतान में उससे अधिक गुणों का समावेश करवायें!

दूसरा, **देव ऋण**–जैसा कि आप जानते हैं कि यह समस्त मानव देह पंच महाभूतों से निर्मित है, (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश)। ये पंच महाभूत साक्षात् ईश्वरीय

शक्ति और प्रेरणा से निर्देशित होते हैं एवं ये मानव देह में अलग–अलग प्रकरणों और इन्द्रियों द्वारा प्रकट होते हैं। जैसे कि **वायु** का प्रकटीकरण **स्पर्श** से है, **अग्नि** का **नेत्र ज्योति** से, **पृथ्वी** का **गंध** से, **आकाश** का **नाद** अथवा ध्वनि से एवं **जल** का **रस** से। हमारा कर्त्तव्य बनता है कि इन पंच महाभूतों का, यदि हम पूजन न कर सकें, तो कम से कम इनको प्रदूषित तो न करें। कोई भी कुलीन व्यक्ति एव कुलीन परिवार इन पंच महाभूतों की नित्य उपासना एवं पूजा अवश्य करते हैं, शुद्धिकरण तो करते ही हैं।

तीसरा, ऋषि ऋण–जो माता–पिता की कृपा से, गुरुकृपा से और अपने संस्कारों वश हमें ज्ञान प्राप्त हुआ है, उस ज्ञान को हम उचित अधिकारियों तक पहुँचायें एवं उस ज्ञान को विस्तृत करें ताकि परिवार का, समाज का, देश का और विश्व का कल्याण हो। यह है ऋषि ऋण।

आज हम पितृ ऋण पर ही एकाग्र करेंगे जिसकी भारत में बहुत आवश्यकता है। आप जानते हैं कि पूरे विश्व में भारतीय पारिवारिक जीवन को विशेष महातम और विशेष प्रशंसा मिली है। हम लोगों का पारिवारिक जीवन बहुत स्थिर है। अक्सर कुलीन परिवारों मे एक व्यक्ति एक ही बार विवाह करता है। वर–वधू अपना संसार बसाते हैं एवं उत्कृष्ट संतान उत्पन होती है। विश्व में विशेषकर यूरोप में यह एक बहुत आश्चर्य का विषय समझा जाता है कि एक व्यक्ति एक ही स्त्री के साथ पूरा जीवन कैसे रहता है? इसके पीछे क्या रहस्य है? क्या कारण है? यद्यपि पिछले कुछ दशकों में अत्याधिक पाश्चात्यानुगमन के कारण हम लोगों में भी वे अवगुण आने लगे हैं, लेकिन उन अवगुणों से हमें तुरन्त छुटकारा पाना है। कुलीन विवाह पद्धति, जीवन का परमावश्यक पहलू है ताकि हम अपने जीवन साथी के साथ अति आनन्दपूर्वक जीवन बिता सकें।

मैं आत्मतभूति से कुछ विशिष्ट प्रकार के विवाहों की चर्चा आपके सम्मुख करूँगा–**सर्वप्रथम**, कुलीन परिवारों में कुलीन व्यक्तियों के जो सर्वोतम् और परमोत्कृष्ट विवाह होते हैं, वे क्या है? जिस विवाह में वर और वधू दोनों के माता–पिता हार्दिक रूप से प्रसन्न हों एवं वर–वधू दोनों प्रसन्न हों। किसी भी कुलीन और उत्कृष्ट परिवार में कोई न कोई कुलगुरु अवश्य होता है क्योंकि बिना मर्यादाओं के अच्छे परिवार नहीं चलते। तो उस विवाह में परिवार के कुलगुरु एवं ऐसा सेवक जिसे श्रद्धापूर्वक उस

परिवार की सेवा करते हुए सात–आठ वर्ष से अधिक हो गये हों, उनकी भी प्रसन्नता अति आवश्यक है। विशिष्ट धार्मिक रीतियों द्वारा जब विवाह समापन होता है, वह एक धार्मिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक विवाह होता है। ऐसे विवाह के उपलक्ष्य में उत्पन्न संतान न केवल परिवार व माता–पिता के लिए बल्कि समाज के लिए एवं देश के लिए कल्याणकारी होती है। ऐसी संतान इतिहास रचती है। वे परम योद्धा, परम वीर, महाज्ञानी, कोई संत, नृप अथवा भूपति होते हैं।

दूसरा विवाह–ऐसे विवाह में वर–वधू की प्रसन्नता और उनके माता–पिता की प्रसन्नता होती है। विवाह धार्मिक अनुष्ठान और रीतियों के अन्तर्गत होता है। संतान उत्पन्न होती है जो परिवार और कुल के लिए अति उत्तम होती है। लेकिन ऐसी संतान इतनी सशक्त नहीं होती कि वे समाज में, देश में और विश्व में किसी प्रकार का योगदान दे सकें। यह बहुत महत्वपूर्ण तथ्य है।

तीसरी प्रकार का विवाह वो है जिसमें वर–वधू की आपस में प्रसन्नता हो, लेकिन दोनों ओर से न तो माता–पिता की प्रसन्नता हो और न ही अप्रसन्नता हो। वे मात्र अपने बच्चों की, अपनी लड़की या लड़के की प्रसन्नता के लिए 'हाँ' कह दें। ऐसे विवाहों के उपलक्ष्य में एक साधारण प्रकार की संतान उत्पन्न होती है, जो बहुत साधारण जीवन बिताती है।

चौथी प्रकार के विवाह वो होते हैं जो मात्र, वर–वधू की इच्छा से ही होते हैं। माता–पिता की प्रसन्नता तो क्या बल्कि वे अप्रसन्न ही होते हैं और ऐसे विवाह किसी पारिवारिक परम्परा, पारस्पारिक धार्मिक कृत्यों के अन्तर्गत न होकर, कोर्ट–कचहरी में होते हैं। ऐसे विवाहों से मानसिक और शारीरिक रूप से अविकसित या अपंग संतान होती है, जो कि माता–पिता के लिए आजीवन एक बोझ बनी रहती है।

पाँचवी प्रकार– ऐसे विवाहों में कोई लड़का किसी लड़की को धोखा देकर अपनाता है और माता–पिता की उसमें कोई प्रसन्नता नहीं होती। ऐसे विवाह के फलस्वरूप जो संतान उत्पन्न होती है, वह सदा अपने पिता के लिए घातक सिद्ध होती है। एक बहुत विस्तृत अध्ययन और आध्यात्मिक चिंतन के आधार पर आपके सम्मुख यह तथ्य रख रहा हूँ।

छठी प्रकार के विवाह वे होते हैं, जिसमें लड़की ने लड़के को धोखा दिया है और दोनों ओर से माता–पिता की अप्रसन्नता होती है। ऐसे विवाह अधिकतर दोनों में से एक की आत्महत्या में समाप्त हो जाते हैं और उनसे उत्पन्न संतान कोई चोर, ठग या अपराधी प्रकार की होती है।

सप्तम् प्रकार के सबसे नीच और निकृष्ट विवाह वे हैं, जिसमें लड़के ने लड़की को और लड़की ने लड़के को धोखा दिया हो। इस विवाह में किसी पूर्वज की या माता–पिता की कोई प्रसन्नता नहीं होती। ये विवाह किसी धार्मिक आयोजन से नहीं होते। ऐसे विवाह अन्ततः किसी एक की दूसरे द्वारा हत्या में अन्त होते हैं। ऐसे विवाह के फलस्वरूप जो संतान उत्पन्न होती है, वह पैदायशी घोर अपराधी किस्म के बच्चे होते हैं। यह मैंने एक सामान्य वर्गीकरण आपके सम्मुख रखा है, लेकिन इसके अतिरिक्त भी कई तथ्य हैं जो कि किसी भी प्रकार के विवाह को प्रभावित करते हैं।

आजकल जैसा कि आप देखते हैं, बहुत धनाढ्य लोग विवाह का आयोजन बड़े–बड़े होटलों में करते हैं और कुछ ऐसे लोगों को भी बुला लिया जाता है, जिनसे आगे–पीछे कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। मात्र, एक झूठे दिखावे और शान के लिए बड़ी से बड़ी बारात तैयार कर ली जाती है। उसमें बहुत बड़ी संख्या उन लोगों की होती है, जो उस समय शराब के नशे में धुत होते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि विवाह किसका हो रहा है। वे मात्र तथाकथित बाराती होते हैं। होटलों के विकृत वातावरण में विवाह सम्पन्न होता है। यही पर मैं जो सत्य उजागर कर रहा हूँ, वह विचारणीय है।

विवाह एक परम पवित्र धार्मिक बंधन है, जिसको अति विशुद्धता पूर्वक धार्मिक परम्पराओं के अन्तर्गत किया जाना चाहिए। यह एक विशेष पारिवारिक उत्सव है, जिसमें अति निकट पारिवारिक लोग एवं स्वजन ही बुलाये जायें। स्वजन का अर्थ क्या है? वे व्यक्ति जिसे देखकर आपको प्रसन्नता हो, जिसकी स्मृति मात्र से आपका हृदय गदगद् हो, जो आपकी प्रसन्नता को बड़ा दे और उसके सम्मिलित होने से आपका कष्ट कम हो जाये उसको कहा है **स्वजन**। ऐसे व्यक्ति आपके भौतिक सम्बन्धों में भी हो सकते हैं। वे आपके हित–चिंतक होते हैं और आप उनके हित–चिंतक होते हैं। वे आपके लिए प्रार्थना

करते हैं और आप उनके लिए प्रार्थना करते हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण बात मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। किसी की खुशी में खुशी प्रगट करना, उसको बधाई देना या दुख में दुख प्रगट करना, यह कोई बड़ी बात नहीं है। मात्र औपचारिकता है। तो कम से कम विवाह शादी के उत्सव में अपने स्वजनों को बुलाइये, जिनकी आपके साथ कोई ईर्ष्या, वैर वैमनस्य व द्वेष न हो। जिनको देखकर आपका मन प्रसन्न हो, जो वास्तव में वर–वधू को आशीर्वाद दें। ऐसा विवाह बहुत शुभ सम्पन्न होता है।

होता यह है कि ऐसे शुभ अवसरों पर अक्सर लोग शराब पीकर आ जाते हैं, बल्कि उनको शराब पिलाई भी जाती है। जहाँ पर किसी भी एक व्यक्ति ने शराब पी हो, तो समझिये वहीं तामसिक शक्तियों का वास होता है। ऐसे विवाह निकृष्ट हो जाते हैं। उस वैवाहिक जीवन में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका भुगतान वर–वधू को भुगतना पड़ता है। इसलिए भूल से भी उस परमोत्कृष्ट पाणिग्रहण समारोह में किसी भी अनुचित नशेई व्यक्ति को प्रवेश न करने दें। यह एक परम धार्मिक उत्सव है। बल्कि हमारे शास्त्रों में तो इसको भगवान विष्णु और माँ लक्ष्मी का एक भव्य उत्सव बताया है। लोग वर–वधू का आशीर्वाद लेते हैं।

विवाह, जहाँ तक हो सके, अपने घर में कीजिये, स्वजनों के बीच में कीजिए, धार्मिक परम्पराओं के अन्तर्गत, शुद्ध हृदय से और शुद्ध वातावरण में कीजिए। जैसे कि हमारी परम्परा थी वर पक्ष की जब बारात आती थी, तो वधू पक्ष के लोग स्वयं उनकी सेवा करते थे। अपने हाथों से उनकी भोजन परोसते व खिलाते थे। प्रेम से उनका सत्कार करते थे। आज उस परम्परा को वापिस ले आइये। होटलों में सम्पन्न विवाह धार्मिक भी नहीं हो सकते और परम्पराओं से युक्त भी नहीं हो सकते। आध्यात्मिक होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। घर छोटा हो या बड़ा, आपकी बेटी की विदाई आपके घर से ही हो, यही शुभ है। तो आज हमें सम्पूर्ण विवाह पद्धतियों को बदलना है। मैं बहुत अधिक आकांक्षा तो नहीं रखता, लेकिन आज यह संकल्प करिये, कि आपके पुत्र व पुत्री के विवाह में कोई भी व्यक्ति शराब पीकर नहीं आयेगा और न शराब पिलाई जायेगी। यदि ऐसा किया गया तो वो विवाह निश्चय ही विनाश का कारण बनेगा। ऐसे विवाह में कभी भी आशीर्वाद की आकांक्षा मत करिये। वहाँ तो देवी–देवताओं का श्राप ही लगेगा।

इसलिए हमको इस तथ्य को नकाराना नहीं है।

विवाह में वधू पक्ष को धन के लिए या दहेज के लिए बाध्य करना या दुखी करना भी विवाह को तामसिक बना देता है। जो भी किसी की सामर्थ हो, उसी के अनुसार ही विवाह करें और उसी को वर पक्ष संतोष पूर्वक ग्रहण करे, मान्यता दे। सबके सम्मुख वर–वधू पक्ष एक दूसरे के प्रति प्रसन्नता का भाव रखें, उसी से परिवार में सदाचार बढ़ता है। पारस्परिक स्नेह, सौहार्दयता एवं प्रसन्नता बढ़ती है।।

विवाह का परम लक्ष्य है अपने कुल की वृद्धि। बाकी अन्य बातें भी महत्वपूर्ण हैं, लेकिन आज यह संतान उत्पति, तथाकथित परिवार नियोजन के सुझावों के कारण बहुत विकृत हो चुकी है। आज हम अपनी परम्पराओं को पाश्चात्यानुगमन के कारण भूल चुके हैं। हर व्यक्ति और विशेष कर बुद्धिजीवी यह समझने लगा है कि संतान उनकी इच्छा से होगी, ऐसा नहीं है। उत्तम संतान की उत्पत्ति मात्र एक पशुवत् कामक्रीड़ा का फल नहीं है, क्योंकि उस क्रीड़ा में पशु ही पैदा होते हैं मानव रूप में, जिसका मैं वर्णन भी कर चुका हूँ।

उत्कृष्ट मानवों के लिए, उत्कृष्ट महारति क्रीडायें हैं, जिसे स्त्री और पुरुष परम हर्षोल्लास, अभय, आरोग्यता एवं आनन्द की स्थिति में पारस्परिक अपनत्व भाव से एवं अधिकार पूर्वक करते हैं। ऐसे में श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास, पारस्परिक समर्पण एव अगाध प्रेम की मानसिक स्थिति में जो यह क्रीड़ायें होती है, उनमें देशातीत, कालातीत कर्मातीत, धर्मातीत एव लिंगातीत समाधि स्थिति उत्पन्न हो जाती है। भगवान श्री कृष्ण अपनी प्रेयसी राधा को प्रेम पत्र लिख रहे हैं। आधे से अधिक पत्र लिखते–लिखते स्वयं राधामय हो जाते हैं और शेष पत्र कृष्ण को ही लिख देते हैं। तो यह लिंगातीत स्थिति है, एक समाधि स्थिति है। यह अति श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा से उत्पन्न हुई स्थिति है। ऐसी महारति क्रीड़ाओं में देह में क्या होता है? इस पर आप एकाग्र करिये।

पाँच महाभूत पृथ्वी जल, तेज वायु एव आकाश इनका देह में प्रतिनिधित्व है– **गंध, स्वाद ज्योति, स्पर्श एव नाद**। ये पाँचों महारति में कार्य करते हैं। पाँच महाप्राण – **प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान हैं**। यह पाँचों महाप्राण इस महारति में मूलाधार में एकत्रित हो जाते हैं। यह बहुत बड़ा यौगिक तथ्य आपके सामने रख रहा हूँ।

कोई ऐसी महाक्रीड़ा नहीं, कोई ऐसा महायोग नहीं, यहाँ तक कि पांताजल योग का भी कोई ऐसा आयाम नहीं है, जिसके द्वारा मानव अपने पाँचों प्राणों को मूलाधार में एकत्रित कर सके जैसा कि वो श्रद्धापूर्वक महारति में कर सकता है।

उर्ध्वरेता शब्द क्या है? कौन सी शक्ति है जो उर्ध्वगमन करती है। महारति में जब पंच प्राण मूलाधार में एकत्रित होते हैं, अगर योगी उस प्राण शक्ति को संतान उत्पत्ति के लिए प्रयोग नहीं करता, तो उर्ध्व ले जाता है और यही प्राणशक्ति उस परम गृहस्थी की कुंडलिनी इत्यादि कई शक्तियों को जागृत कर देती है। उसके **ब्रह्मरन्ध** को खोल देती है। इतनी महासशक्त क्रीड़ा है यह। तो पाँचों महाप्राण, पाँचों महाभूत, पंच रस जिनको हम हारमोन्स कहते हैं और पंच तंत्रिका तंत्र जो मानव देह में हैं, वह इस महारति क्रीड़ा में काम करते हैं, जो स्वयं में समुद्र मंथन है। **यह मैथुन नहीं, मंथन है।** इस मंथन के फलस्वरूप पाँच रत्न उत्पन्न होते हैं।, पहला है **परमोत्कष्ट संतान,** जो अपने जीवन काल में इतिहास की रचना करती है। वे महायोद्धा, महापराक्रमी, महातेजस्वी महाज्ञानी या महा संत होते हैं। दूसरा, यदि इन पाँच प्राणों की गतियों को उर्ध्व ले जाया जाये जो महायोगी ही कर सकता है, तो तुरन्त **महाज्ञान** की उत्पत्ति होती है। तीसरा, रत्न है **अजरता,** चौथा, **अमरता** और पाँचवाँ, **ऐश्वर्य**। अगर यह महारति अपनी विभिन्न प्रकार की विधाओं से युक्त होती है, तो पाँचों रत्नों में से किसी एक की उत्पत्ति अवश्य होती है। हमारी भारतीय संस्कृति एवं परम्परायें कितनी उत्कृष्ट, विशाल और गहन है।

एक दूसरी काम क्रीड़ा है जिसको कोई भी नशेडी नशे में अपनी स्त्री पर तथाकथित अधिकार जमाते हुए करता है। उसके फलस्वरूप गर्भ ठहर जाता है तथा नर रूप में पशु उत्पन्न होते हैं।। यहाँ प्रत्येक माता ने अनुभव किया होगा, कि जब गर्भ मे शिशु लगभग पाँचवें महीने में होता है, तो उसमें एक हलचल शुरू हो जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह वह समय है जब **जीवात्मा** का मानव शिशु में प्रवेश होता है। कैसी जीवात्मा? **रजोगुणी, सतोगुणी या तमोगुणी**? यह इस बात पर निर्भर करता है कि गर्भ धारण के समय की क्रीड़ाओं में पति–पत्नी का भाव एवं मानसिकता क्या थी?

गर्भ धारण के बाद आपका खान–पान, कमाई का साधन, घर का वातावरण, आपके

विचार व देश काल की स्थितियों उस गर्भ पर असर करती हैं और उन्हीं के अनुसार पाँचवें महीने में जीवात्मा का प्रवेश होता है। यह एक आध्यात्मिक तथ्य आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। जिस समय किसी माता के गर्भ मे पाँचवें–छठे महीने का शिशु होता है तो परिवार की आर्थिक स्थिति में, सामाजिक स्थिति में, शिक्षा में और कई प्रकार की अन्य स्थितियों में एक सम्पूर्ण और बड़ा परिवर्तन अवश्य आता है। यह परिवर्तन होता है गर्भ में आये हुए **शिशु के संस्कारों वश और उसके प्रारब्धवश**। आप कभी इस बात पर एकाग्र करिये, आपको सत्यता का आभास हो जायेगा। जीवात्मा के प्रवेश के बाद उस गर्भ की ग्रहण क्षमता बहुत अधिक होती है। उस समय आपकी प्रत्येक क्रिया का सीधा प्रभाव गर्भ के शिशु पर पड़ता है। आपने इतिहास में सुना होगा कि वीर **अभिमन्यु** ने अपनी माँ के गर्भ में ही **चक्रव्यूह में प्रवेश करना** सीख लिया था। **अष्टावक्र** ने परम ब्रह्मसूत्रों का ज्ञान अपनी माँ के गर्भ में ही ले लिया था। इस प्रकार प्रत्येक मानव शिशु पाँचवें से नौवे महीने के गर्भ में अत्याधिक ग्रहण करने की शक्ति रखता है। उस समय आपको एक–एक क्रिया पर बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। **यदि आप उत्कृष्ट संतान चाहते हैं, तो आपका जीवन योगी या योगिनी की तरह होना आवश्यक है।**

गृहस्थ, एक परम तपमय आश्रम है। जैसा कि मैं सबसे पहले बता चुका हूँ कि एक कुलीन गृहस्थ में सात लक्षण होने आवश्यक हैं **वह सदाचारी हो, दानी हो, यज्ञ–हवन करने वाला हो, वेदों का स्वाध्याय करने वाला हो, इन्द्रिय निग्रह करता हो, संयमी हो और विवाह भी धार्मिक रीति से और विशुद्ध हों।** तभी वह कुलीन गृहस्थ होता है। वह संतान और वह माता–पिता जो गृहस्थ में रहते हुए योगी की तरह एव तपस्वियों की तरह जीवन बिताते हैं, तो उस तप का प्रभाव उनकी संतान पर अवश्य पड़ता है। आज हम इस विशुद्ध परम्परा से विमुख होते जा रहे हैं। हमारे विशुद्ध संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं अपितु छुप गये हैं। उनको उभारने की आवश्यकता है। आज हमने न केवल स्वयं इस सत्य का पालन करना है, बल्कि इस सत्य को विश्व में उजागर करना है। आज पाश्चात्य् देश भारत की ओर देख रहे हैं कि यहाँ पर स्थिर और सुखद परिवारों के पीछे रहस्य क्या है? यदि हमने ही पाश्चात्य्

सभ्यता का अनुसरण करना शुरू कर दिया तो हम उनको क्या दे पायेंगे?

विवाह के विभिन्न प्रकारों पर आपको बहुत विचार करना है ताकि हमारी संतान भारतीय संस्कृति से युक्त हो और जीवन को संतोषपूर्वक, प्रसन्नतापूर्वक व आनन्दमय बिताये। वे हमारे परिवार के लिए, समाज के लिए, देश के लिए और सम्पूर्ण विश्व के लिए कल्याणकारी हो। यदि हम इन गहन रहस्यों पर पुनर्विचार करें, इनको अपने मनन में लाये जो असम्भव नहीं है, थोड़ा कठिन अवश्य है। अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। इन सम्पूर्ण बातों पर ध्यान करते हुए हमें अपनी पुरानी परम्पराओं का अनुसरण करना है, ताकि विशुद्ध संस्कारों से युक्त एवं सशक्त संतान उत्पन्न हो, जो विश्व का कल्याण करने में सक्षम हो।

।। जय जय श्री राम।।

बाल्यकाल

प्रत्येक मानव शिशु अमुक–अमुक समय पर, अमुक–अमुक देश, काल, परिस्थिति एवं विशिष्ट माता–पिता से उत्पन्न होता है। **मानव–जन्म अपने में एक बहुत रहस्यमय प्रक्रिया है ।** उस अबोध नवजात शिशु के उत्पन्न होते ही उसके माता–पिता उसे तुरन्त, सहर्ष मान्यता दे देते हैं। कई प्रकार की खुशियाँ मनाई जाती हैं। हर्षोल्लास का वातावरण होता है व बधाईयाँ मिलती हैं, इत्यादि–इत्यादि। यही एक गहन विचारणीय तथ्य जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ, वह यह कि यद्यपि उस नवजात **शिशु के उत्पन्न होते ही माता–पिता उसके पुत्र या पुत्री होने की मान्यता तुरन्त दे देते हैं, पारिवारिक और सामाजिक मान्यतायें भी तुरन्त मिल जाती हैं, लेकिन उस नवजात शिशु के हृदय में अपने माता–पिता, अपने सगे–सम्बन्धियों व भाई–बान्धवों के लिए कोई भी मान्यता नहीं होती।** वह संतान जब अपना होश संभालती है क्या वह उन माता–पिता को अपनी माँ या पिता होने की मान्यता देगी या नहीं, यह सुनिश्चित नहीं है। इसके कई भौतिक एवं आध्यात्मिक कारण है।

जब तक शिशु होश सभालता है और पहचानने योग्य होता है, तब तक हो सकता है उसके माता–पिता में से एक अथवा दोनों इस संसार में न रहे अथवा उसे कोई गोद ले ले। उन्हीं गोद लेने वालों को होश सम्भालने पर वह अपनी माँ अथवा पिता मानने लगता है। यह एक व्यवहारिक सत्य मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। कई मातायें अपने कार्यों में व बाह्य जीवन इतनी व्यस्त होती हैं, कि उनके शिशुओं को 'आया' पालती है और उससे वे इतने घुल–मिल जाते हैं, कि उसको ही अपनी माँ समझने लगते हैं। यहाँ तक कि अपनी वास्तविक माँ को वह कभी मान्यता ही नहीं देते। इसके अतिरिक्त भी कई कारण हैं कहने का अर्थ यह है कि जो शिशु उत्पन्न हुआ है वह यद्यपि माता–पिता से पुत्र अथवा पुत्री होने की मान्यता ग्रहण कर लेता है, लेकिन स्वयं होश सम्भालने पर वह उनको माता–पिता का दर्जा दे या न दे, यह कोई सुनिश्चित तथ्य नहीं है। कितना बड़ा अर्धसत्य है इस अवस्था में। दुर्भाग्यवश एवं अज्ञानवश, उस शिशु के उत्पन्न होते ही माता–पिता उसके भविष्य की न जाने क्या–क्या योजनायें बनानी शुरू कर देते हैं।

उस अबोध शिशु में जब बोधता आती है, तो ही वह माता–पिता को मान्यता देता है और धीरे–धीरे परिवार के अन्य सगे–सम्बन्धियों को मान्यता देता है। बुद्धि का विकास होने लगता है। उसकी पढ़ाई का समय आने लगता है। यहाँ एक सुनिश्चित तथ्य जो मैं आपके सम्मुख रखना चाहता हूँ, कि जहाँ तक प्राइमरी शिक्षा का सम्बन्ध है यदि आप बच्चों का बचपन उल्लास मय व स्वस्थ चाहते हैं, तो बच्चों की प्राथमिक शिक्षा अपनी मातृ भाषा में होनी आवश्यक है। जिन परिवारों में अधिकतर हिन्दी व अन्य भारतीय भाषायें बोली जाती हैं, उनके अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों का यदि मानसिक विश्लेषण किया जाये, तो उनमें से 70 प्रतिशत बच्चों में निश्चित मानसिक विकार पाये जायेंगे। जो पेड़ जिस वातावरण में उग नहीं सकता, उस जलवायु में यदि उस पेड़–पौधे को लगाया जाये, तो आप ही बताइये कि वहाँ वह प्रस्फुटित कैसे होगा? अगर प्रस्फुटित हो भी गया, तो उसका विकास कैसे होगा? ठीक इसी प्रकार किसी बच्चे की प्राथमिक शिक्षा अपनी भाषा में होनी चाहिए अन्यथा उस पर एक मानसिक दबाव पड़ जाता है, जिसके फलस्वरुप बच्चा कई प्रकार की मानसिक बिमारियों से ग्रसित हो जाता है। उदाहरण के लिए बार–बार दाँतों से नाखून काटना, ऑख झपकाना, अति वाचलता अथवा गुमसुम हो जाना, भोजन ठीक समय पर न खाना, भूख न लगना, रात्रि में अच्छी निद्रा न आना, अति भावात्मक असंतुलन और देर आयु तक रात में बिस्तर गीला करना, इस प्रकार की विभिन्न मानसिक दुविधाओं से ये बच्चे ग्रसित हो जाते हैं। ये तथ्य मैं आपके सम्मुख एक चिकित्सक होने के नाते रख रहा हूँ।

विडम्बना यह है कि आप बच्चों को अपनी भाषा में प्राइमरी शिक्षा नहीं दे सकते? यदि उन स्कूलों का स्तर आपकी आर्थिक स्थिति से नीचे है, तो क्या ऐसे स्कूल विकसित नहीं किये जा सकते? ऐसे स्कूल भी होते हैं जिनमें भारतीय संस्कारों की, भारतीय पद्धतियों की शिक्षा दी जाती है तो क्यों एक विदेशी भाषा के पीछे पड़ते हैं! हम क्यों चाहते हैं कि यह कुछ घंटे स्कूल में जाने वाला बच्चा उस विदेशी भाषा में शिक्षा एवं ज्ञान प्राप्त करे, जबकि घर में उस भाषा का कोई वातावरण ही नहीं होता। ऐसे बच्चों का बचपन छिन जाता है, किताबों के बोझ से लद जाते हैं, वे ही नहीं उनके माता–पिता भी। एक तनावित जीवन बिताते हैं वे। उनका हर्षोल्लास मिट जाता है एवं मस्ती समाप्त

हो जाती है। एक भय व तनाव बचपन से ही उनमें शुरू हो जाता है, जो कि आजीवन व्याप्त रहता है। यद्यपि ये बच्चे तथाकथित शिक्षित भी हो जाते हैं, लेकिन ये समाज के लिए एक विक्षेप का कारण ही रहते हैं एवं अपने परिवार के लिए भी निराशाजनक हो जाते हैं। इस तथ्य को हम नकार नहीं सकते। एक सुनिश्चत समय में बच्चे की बुद्धि में इतनी शक्ति आ जाती है, जैसा कि लगभग हाई स्कूल के बाद यदि किसी विदेशी भाषा सीखने का उस पर बोझ पड़ भी जाये, तो बड़ी सुचारुता व कुशलता से वे उस भाषा को सीख सकता है अर्थात् हमें भेड़–चाल नहीं चलनी चाहिए। मानसिक रोगों से यदि बच्चे बचपन में ही ग्रसित हो जायेंगे तो उनका भविष्य क्या होगा? उनकी युवावस्था क्या होगी?

उसके बाद बड़ा ज्वलन्त विषय बच्चों के कैरियर का प्रश्न आता है। अक्सर तथाकथित बुद्धिमान माँ–बाप बच्चों पर कैरियर लादते हैं। यह बहुत बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण विषय है। यह उस बच्चे को आपके अंश से और आपकी कोख से जन्म लेने का दण्ड है। न जाने प्रभु ने उसको किस लिए पृथ्वी पर भेजा है! आप अपने लाभ व अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए उस बच्चे पर न जाने क्या–क्या धन व्यय कर डालते हैं? अपनी चमक–दमक के लिए, अपनी अहम् वृत्ति को संतुष्ट करने के लिए आप लाखों रुपये उसके जन्म दिन पर, उसके परिधान पर, उसकी चिकित्सा एवं शिक्षा पर खर्च करते हैं और अन्ततः जब बच्चा आपके अनुरूप नहीं उतरता, तब आप समाज में ढिंढोरा पीटते नहीं थकते, कि आपने बच्चे के लिए इतने कष्ट सहे, इतना खर्चा किया और आज यह आपके अनुकूल नहीं है।। आपको विचार करना होगा कि आपने वे समस्त कार्य मात्र अपनी अहम् वृत्ति को संतुष्ट करने के लिए और अपने लिये किये हैं, बच्चे के लिए कुछ भी नहीं किया। हो सकता है बच्चे को आपने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए तनावित किया हो। आपने यह जानने की कोशिश भी नहीं की, कि न जाने प्रभु ने क्या विशेष प्रतिभायें देकर आपके घर वह बच्चा पैदा किया है? यहाँ पर एक विशेष विषय का भी मैं उल्लेख करना चाहता हूँ कि आपको विवेकशील एवं सत्संगी माता–पिता होने के नाते उस समय यह विचार करना होगा कि आप अपने शिशु को एक **साधारण अथवा असाधारण,** कौन सा व्यक्ति बनने की प्रेरणा देना चाहते हैं। आपको साधारण एव असाधारण की

परिभाषा स्वयं में स्पष्ट होनी चाहिए। जब कोई मानव इस संसार में अपनी भौतिक प्राप्तियों के कारण जाना जाता है, उदाहरण के लिए यदि कोई अति धनवान है, उसने अति सुन्दर भवन का निर्माण किया हो और वह उस भवन के कारण जाना जाता हो। किसी की गाड़ी बहुमूल्यवान हो और वह उस वाहन के कारण जाना जाता हो। किसी का पद बहुत ऊँचा हो, किसी में बाहुबल बहुत हो, किसी की आवाज मधुर हो, कोई बहुत सौन्दर्यवान हो। इस प्रकार अपनी तथाकथित **उच्च शिक्षा के कारण, पद के कारण, जन बल, धन बल के कारण और अन्य कई भौतिक पदार्थों एवं उपलब्धियों के कारण जब कोई व्यक्ति जाना जाता है, तो वह साधारण मानव है।** क्योंकि यह सब उपलब्धियाँ एक न एक दिन क्षीण हो जायेंगी, समाप्त हो जायेंगी। सौन्दर्य समाप्त हो जायेगा। किसी शायर ने कहा –

कौन पूछेगा तुझे यह हुस्न ढल जाने के बाद

बाहुबल क्षीण हो जाता है। जन बल एव धन बल भी नाशवान है। पद भी नहीं रहता। अतः भौतिक उपलब्धियों से किसी की ख्याति होना एक बहुत निम्न कोटि का यश है, जो क्षणिक है, किसी समय भी समाप्त हो सकता है और उसकी समाप्ति के बाद वह मानव निराशामय जीवन बिताता है। परन्तु **जब वस्तुएँ या भौतिक उपलब्धियों, किसी मानव के कारण जानी जाती है, जैसे कि किसी गुफा, किसी स्थान, किसी पेड़ अथवा किसी पर्वत के सम्मुख हम नतमस्तक होते हैं, क्योंकि अमुक–अमुक मानव ने वहाँ तप किया था, तो उसकी साधारण सी वस्तु जैसे खडाऊँ इत्यादि भी पूजित हो जाती है, ऐसा मानव असाधारण होता है।**

आपको आज ही सुनिश्चत करना होगा, कि आप अपने बच्चे को साधारण बनाना चाहते हैं या असाधारण। यदि असाधारण व्यक्ति बनाना चाहते हैं, तो आपको अपने **बालक को तप की ओर प्रेरित करना होगा व उसके जीवन को अनुशासित करना होगा।** उसके जागने का, सोने का, पढने का, व्यायाम का एवं ईश्वरीय चिंतन का समय, उसका भोजन और उसके मनोरंजन के साधन, यह सब आपको सुनिश्चित करने होंगे। उसके साथ आपको अपनी स्वयं की दिनचर्या पर विशेष ध्यान रखना अति आवश्यक है। क्योंकि बालक जहाँ रहता है, वह उसी वातावरण का अनुसरण करता है।

आपको स्वयं तपस्वी की तरह जीवन बिताना होगा। यह बात सबको स्पष्ट हो जानी चाहिए। आप उस बच्चे को देखिये कि उसे ईश्वर ने क्या विशिष्ट प्रतिभायें दी हैं। ईश्वर ने असंख्य जीव–जन्तुओं को, पक्षियों को, यहाँ तक कि कीड़े–मकोड़ों तक को विशेष प्रतिभायें दी है जिनके कारण वह अपना जीवन निर्वाह करते हैं और एक–दूसरे के लिए उपयोगी भी होते हैं। तो क्या उसने मानव में कोई प्रतिभा नहीं दी होगी? हम कौन होते हैं अपने बच्चे पर किसी कैरियर को थोपने वाले! यदि हम ऐसा करते हैं तो हो सकता है हम उसका ईश्वर द्वारा सुनिश्चित कैरियर समाप्त कर रहे हैं, जो कि सत्य है। अपने बच्चे पर ध्यान दीजिए। उसका चरित्र उद्दात हो, उसकी दिनचर्या, उसका भोजन और उसकी बुद्धि का दिव्य विकास हो। महापुरुषों का सत्संग हो, जीवन के सत्य के दिग्दर्शन से उसको अवगत् करवाइये। यदि आप चाहते हैं, आपका बच्चा एक महापुरुष के रूप में विकसित हो एवं एक इतिहास का निर्माण करे तो मत थोपिये उस पर अपने कैरियर।

इसके अतिरिक्त मैं एक और सत्य आपके सम्मुख रखता हूँ। बड़ा गम्भीर विषय है। आपकी कोख से और आपके अंश से जन्म लेने वाला मानव शिशु यद्यपि वह भौतिक रूप से आपकी संतान है, लेकिन वास्तव में वह आपका क्या है? हमारी संस्कृति में जीवन कभी समाप्त नहीं होता। जन्म के बाद फिर जन्म होते हैं। मृत्यु, दो जन्मों के बीच मात्र एक पड़ाव है। उसके बाद जीवन की अविरल धारा फिर चलती रहती है। जो शिशु आपके परिवार में पैदा हुआ है, हो सकता है कि पूर्व जन्म का कोई बहुत बड़ा शत्रु आपके घर में आपकी संतान बनकर पैदा हुआ हो। हो सकता है आपका बहुत घनिष्ठतम् सखा या आपकी सखी आपके घर में संतान बनकर पैदा हो गई हो। हो सकता है, आपका पूर्वजन्म का कोई साझेदार अपना हिसाब–किताब चुकाने आपके पास आया हो। न जाने उस नाम रूप अथवा उस तथाकथित पुत्र अथवा पुत्री के सम्बन्ध में वास्तव में वह कौन है? यदि आप ध्यानपूर्वक शिशु के सारे क्रियाकलापों को देखेंगे, तो आपको इसका ज्ञान हो जायेगा। इन सब प्रकार की व्याधियों से छुटकारा पाने के लिए और उस शिशु के साथ अपने जीवन को अति आनन्दित बिताने के लिए हमको क्या करना आवश्यक है? उस भौतिक सम्बन्ध में मधुरता लाने के लिए हमें कुछ ईश्वरीय उपाय करने पड़ते हैं।

उसके लिए जप–तप, यज्ञ–हवन, दान–पुण्य करना पड़ता है, ताकि वह हमारे घर में एक धरोहर हो, अपने समाज के लिए, अपने देश के लिए और अपने आने वाले समय के लिए वह एक रत्न हो। उसकी बुद्धि में शान्ति हो, सौहार्दता हो, सरसता हो, निर्मलता हो, प्रेम हो। उसके लिए माता–पिता को कई विशिष्ट प्रकार के साधन करने पड़ते हैं। आँखें नहीं मूँद सकते हम। उसके साथ हमारा आध्यात्मिक सम्बन्ध क्या है? इसको जानने के लिए हमें गहन चिंतन करना होगा। जिसका हमारे पास समय नहीं होता।

बच्चे की शिक्षा, उसकी चिकित्सा एवं सब कुछ को हमने अपने धन से तोलना शुरू कर दिया है। अधिक से अधिक धन लेने वाले शिक्षक नियुक्त कर दिये जाते हैं, ताकि बच्चे को हम बहुत बड़ी शिक्षा दे रहे हैं। छोटी–छोटी बिमारियों के लिए बड़े–बड़े महंगे चिकित्सकों का इलाज कराया जाता है। वर्ष में एक आध दिन पहनने के लिए बहुत कमती पोशाकें सिलाई जाती हैं। हम कहते यह हैं कि हम बच्चे के लिए बहुत कुछ कर रहे हैं। आप कभी विचार करिये कि क्या वास्तव में आप जो कर रहे हैं, अपने बच्चे के लिए कर रहे हैं। ईमानदारी से इस प्रश्न का उत्तर आपको स्वयं से लेना होगा और आपको ज्ञात हो जायेगा कि आप जो भी कर रहे हैं अपने झूठे अहम् को संतुष्ट करने के लिए कर रहे हैं। बड़ा होने पर बच्चे को बार–बार यह अवगत् करवाया जाता है, कि हमने बचपन में तुम्हारे लिए अमुक–अमुक कार्य किये। हो सकता है कि यह सब कुछ करके आप बालक के निर्मल मन को विक्षिप्त कर रहे हैं। **क्या आप प्रतिदिन सुबह–शाम ईश्वर के दरबार में बैठकर अपने बच्चे के लिए प्रार्थना करते हैं? क्या आप विशुद्ध धन कमाते हैं उस बच्चे को पालने के लिए?**

यदि हम चाहते हैं कि हमारी संतान परिवार एवं कुल के लिए सुखद हो, हमारी मर्यादाओं के अनुकूल हो, हमारी परम्पराओं को विकसित करने वाली हो, हमारे धर्मो–कर्मोंको आगे बढ़ाने वाली हो, हमारे पूर्वजों के अधूरे कार्यों को पूर्ण करने वाली हो, हमारे समाज देश, और विश्व के लिए उपयोगी हो, तो हमें स्वयं एक साधक का सा जीवन बिताना होगा। जब भी कोई भौतिक प्राप्ति होती है, धन की, संतान की, डिग्रियों की पद की या अन्य किसी भी प्रकार की तो उस भौतिक उपलब्धि और उसके भोग के बीच में एक बहुत बड़ी कड़ी है जिससे मैं आपको आज अवगत् करवाना चाहता हूँ और

वह रहस्यमय कड़ी है– **अधिकार! जब तक किसी ऐसी उपलब्धि पर आपका अधिकार नहीं है आप उसका भोग तो क्या उसका स्पर्श भी नहीं कर सकते।** अपने जीवन में आप अनुभव करते होंगे कि सम्पदा, धन इत्यादि किसी और का होता है और उसका भोग कोई और करता है। संतान किसी और की होती है और उसका सुख कोई और लेता है। डिग्रियाँ कोई लेता है और उसका प्रयोग कोई और करता है। पद किसी का होता है और पद का भोग कोई और करता है। ऐसा क्यों है, क्या यह विचारणीय विषय नहीं है?

सारा संसार मात्र, प्राप्तियों के पीछे भाग रहा है। कोई पद के लिए, कोई स्त्री के लिए कोई धन के लिए कोई संतान के लिए, कोई भवनों के लिए, कोई सम्पदा के लिए, नाम के लिए यश के लिए अपनी शारीरिक शक्तियों को बढ़ाने के लिए व अन्य भौतिक उपलब्धियों के लिए आज हम भाग रहे हैं! क्यों भाग रहे हैं हम? यदि हमें यह उपलब्धियाँ हो भी जाये तो हम चाहते क्या हैं? उनका भोग! आनन्दमय भोग! तो क्या वे प्राप्त वस्तुएँ हमें भोग देगीं ? यह बहुत बड़ा प्रश्न सूचक चिन्ह हमारे सामने खड़ा हो जाता है और विशेषकर उस समय जब हम स्वयं उन वस्तुओं को उपलब्ध तो कर लेते हैं परन्तु उनको स्पर्श तक नहीं कर सकते। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है कि उन वस्तुओं को भोगने से पहले **उन पर अधिकार होना अति आवश्यक है, जो हमारा नहीं होता।**

यह अधिकार क्या है ? कैसे विकसित होता है यह अधिकार ? अधिकार का स्थान है **हमारा मन। अधिकार मानव मन का उत्पाद है।** उसको प्राप्त करने के लिए हम कोई प्रयत्न नहीं करते। वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए हम दिन–रात पूरा जीवन भागते–भागते अन्ततः मृत्यु की नितान्त शान्त गोद में सो जाते हैं। फिर जन्म लेते हैं और फिर प्राप्तियों के लिए भागना शुरू कर देते हैं। कोई ऐसा प्रयत्न नहीं करते कि जिससे हमारा अधिकार बढ़े। इसको बढ़ाने के लिए हमको चाहिए जप, तप, साधना, ईश्वरीय कृपा, महापुरुषों का, पूर्वजों का, सद्गुरु का एवं अपने माता–पिता का आशीर्वाद। तो क्या हम इसके लिए प्रयत्न करते हैं? जब तक हमारा मानसिक अधिकार नहीं बढ़ेगा तब तक संसार की कोई भी भौतिक वस्तु हमारे लिए न केवल निरर्थक होगी,

बल्कि नकारात्मक होगी। हमारे लिए तनाव एवं भय का विषय बन जायेगी।

एक सत्य मैं आपके सामने और रख देता हूँ कि **जिस समय मानसिक अधिकार बढ़ जाता है, उस समय हमें प्राप्तियों के पीछे भागने की आवश्यकता ही नहीं रहती। भोग चल कर हमारे पास स्वयं आते हैं और उस समय भोगों की कोई इच्छा नहीं रहती। जैसे–जैसे अधिकार बढ़ता है, एक नशा होता है उसका, जीवन स्वतः ही आनन्दमय हो जाता है।** जब मानव मन ईश्वरीय मन में समर्पित हो जाता है, तो वसुन्धरा, आकाश, पाताल एव सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड के प्रत्येक भोग पर उसका अगाध एवं अथाह अधिकार हो जाता है। जो कि ईश्वरीय आराधना, गुरु कृपा, आत्म कृपा और साधना से उपलब्ध होता है। हमें अपनी संतान को इस अधिकार के दर्शन से अवगत् कराना होगा। **सर्वप्रथम हमें अपनी संतान में अधिकार उत्पन्न करना होगा। अधिकार उत्पन्न होता है श्रद्धा से, सेवा से और ईश्वरीय समर्पण से।** जिस व्यक्ति के लिए हम विशुद्ध हृदय से प्रार्थना करते हैं, उस व्यक्ति पर हमारा अधिकार हो जाता है। यह एक आध्यात्मिक सत्य मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ।

आपके अपने व्यक्ति कौन हैं ? भले ही आपका कितना घनिष्ठ रुधिर का सम्बन्ध हो, यह आवश्यक नहीं कि वह व्यक्ति आपका भी हो। हो सकता है वह आपका सबसे बड़ा शत्रु हो तथा आपसे द्वेष करता हो। **यदि आप विशुद्धता एव ईमानदारी से किसी के लिए प्रार्थना करते हैं, तो वह व्यक्ति भी आपका हित–चिंतक हो जायेगा।** यह एक परम सत्य है। **स्वजन वह है जो कि आपकी प्रसन्नता में प्रसन्न हो और आपके कष्टों में, आपके दुखों में वह भी दुखी हो।** आपको अपने स्वजनों का चयन करना आवश्यक है। आपको अपने बच्चों को यह शिक्षा और यह ज्ञान अवश्य देना चाहिए कि स्वजन क्या है? सत्य क्या है? सत्य परम्पराएँ क्या है ? जब आपके जीवन में कोई प्रसन्नता का अवसर आता है यदि उसमें आपके स्वजन एकत्रित होते हैं तो आपकी प्रसन्नता बढ़ जाती है। जब जीवन में कोई कष्ट आ जाये, उस समय स्वजनों के आने से आपका कष्ट कम हो जाता है।

यदि आप चाहते हैं कि **आप अपने बच्चों को अपना बनाये तो उसके लिए**

आपको साधना करनी होगी। उनके जन्म दिवस पर यदि आप होटलों को बुक करके लाखों रुपये खर्चते हैं, तो मात्र अपनी झूठी प्रशंसा पाने के लिए और समाज में झूठी वाह–वाह पाने के लिए! हो सकता है आप बच्चों को विक्षिप्त ही कर रहे हों। इन साधारण सत्यों पर आपको विचार करना होगा। आप सत्य से ऑख नहीं मूँद सकते। यह भूल जाइये कि अपने अंश से उत्पन्न अपनी संतान पर बहुत धन लगाकर, उसकी शिक्षा, उसकी चिकित्सा और उसके सुख–साधन बहुत मंहगे खरीदकर आप अधिकार उत्पन्न कर सकते हैं। ऐसा आवश्यक नहीं है। आपको अपने भाव से, अपनी विशुद्ध कमाई से, सरलता से, उपासना से, साधना से, यज्ञ–हवनों से, जप–तप से अपने बच्चे में हक उत्पन्न करना होगा। **यह न केवल अपने शिशु में बल्कि संसार के समस्त भोगों के लिए आवश्यक ईश्वरीय नियम है, कि जब तक आपका किसी वस्तु पर अपना अधिकार रही होता, तब तक वह वस्तु आपको भोग नहीं दे सकती और जब हक उत्पन्न हो जाता हैं, तो आपको प्राप्ति की भी आवश्यकता नहीं होती। वस्तुएँ चलकर आपके पास आती है। आप मात्र उनकी आनन्दपूर्वक भोगते हैं।**

कभी भी नकारात्मक प्रार्थनायें मत कीजिये, कि हे प्रभु ! मेरे कष्टों को, निर्धनता को, मेरे दुखों को, मेरे रोगों को हरो। ये प्रार्थनाएँ नकारात्मक हैं, क्योंकि ईश्वर को दुखों का, रोगों का व निर्धनता का कोई ज्ञान ही नहीं है। ईश्वर नहीं जानते कि कष्ट क्या हैं? प्रभु स्वयं अपने में सच्चिदानन्द हैं और छः गुणों से परिपूरित हैं, महासौन्दर्यवान, ज्ञानवान, खयातिवान, ऐश्वर्यवान, शक्तिवान एवं त्यागवान। उनसे आप उनके गुणों की माँग करिये, कि हे प्रभु। आप सच्चिदानन्द हैं, मुझे भी सच्चिदानन्द बना दीजिये–

देहि मे सौभाग्यं आरोग्यं, देहि मे परमं सुखम।
रूप देहि जय देहि यशो देहि द्विषो जहि।

ये सकारात्मक प्रार्थनाएँ हैं। क्या सूर्य ने कभी अंधकार देखा है ? इसलिए आपको अपनी संतान के लिए भी सकारात्मक प्रार्थना करनी होंगी। आपको योगी की तरह, तपस्वी की तरह, एक विरक्त की तरह जीवन बिताना होगा। गृहस्थ आश्रम कोई आसान आश्रम नहीं है। **अगर चारों आश्रमों में से अति कठिन और साधना से युक्त**

कोई आश्रम है तो वो है गृहस्थ आश्रम। आप इस तथ्य को नकार नहीं सकते। जो शिशु आपके घर में उत्पन्न हुआ है आपके अंश से व आपकी कोख से, उसके बारे में आपको स्पष्ट होना अति आवश्यक है, कि वह कौन है? आपका वास्तव में उससे सम्बन्ध क्या है ? उसका भोजन, उसका रहन–सहन, उसकी शिक्षा इत्यादि, इन सब पर आप कैसा धन खर्च कर रहे हैं? उसका नित्य नियम व कर्म क्या है? क्या आप उसको असाधारण व्यक्ति बनाना चाहते हैं? यदि हाँ, तो उसके लिए आप क्या प्रयत्न कर रहे हैं? क्या प्रार्थनाएँ कर रहे हैं? यह जानना अति आवश्यक है।

तो इस पाश्चात्य सभ्यता की अन्धी दौड़ से आपको आज ही विमुक्त होना है। वह मात्र, भौतिकवाद की तरफ प्रेरित करती है और यदि आप अपनी संतान को भी उधर ले जायेंगे, तो वह संतान आपको कभी सुख नहीं दे सकती। इन शब्दों के साथ विराम देता हूँ इस विषय को जिसका नाम है **बाल्यकाल** बहुत विस्तृत विषय है। इस पर आपको आज से ही विचार करना होगा। आपको तपस्वी बनना होगा। आज हमें गृहस्थ में सन्यासी चाहियें जो कि तपस्वियों की तरह अपने आपको और अपनी संतान को नियंत्रित करें और तैयार करें ताकि वे सम्पूर्ण विश्व के लिए कल्याणकारी हों।

।। जय जय श्री राम ।।

उत्कृष्ट शिक्षा

आज आपके सन्मुख शिक्षा को पारिभाषित करने, शिक्षा किस प्रकार दर्शन से एवं आत्मज्ञान से भिन्न है, इसका मनन करने और शिक्षा को किस प्रकार अत्याधिक गुणात्मक बनाया जा सकता है, इसका विश्लेषण करने का प्रयत्न करूँगा।

सर्वप्रथम तो हमको यह स्पष्ट होना अति आवश्यक है कि **शिक्षा की परिभाषा क्या है?** आज चहुँ ओर जगत में शिक्षा की दुहाई दी जाती है। तकनीकी, विज्ञान व अन्य प्रकार की शिक्षाओं का बाहुल्य है। यदि हम शिक्षा की एक सम्पूर्ण परिभाषा दें, तो वह होगी–**मानव देह एवं देह की समस्त ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अधिगृहीत मानव जगत के बारे में, मानव बुद्धि द्वारा उत्पन्न वह ज्ञान, जिसकी उत्पत्ति मानव बुद्धि द्वारा हो, जिसका विकास मानव बुद्धि द्वारा हो, जो प्रमाणित मानव बुद्धि द्वारा हो, जिसका संशोधन एवं नवीनीकरण होना भी मानव बुद्धि द्वारा हो और जिसका प्रयोग, भले ही वह सदुपयोग हो अथवा दुरुपयोग हो, वह भी मानव बुद्धि द्वारा ही हो, उस ज्ञान का नाम है 'शिक्षा'।**

शिक्षा की इस सम्पूर्ण परिभाषा से यह अर्थ निकलता है, कि **मानव बुद्धि भौतिक** है। अतः इस भौतिक शक्ति का उत्पाद भी स्वयं में भौतिक ही होगा। यह एक परम आवश्यक तथ्य मैं आपके सम्मुख दृढ़तापूर्वक रखना चाहना हूँ। कोई कितना भी सुशिक्षित क्यों न हो, अन्ततः मृत्यु के समय उसकी समस्त शिक्षायें धुल जाती है। शिक्षा अपने में एक ग्रहण किया हुआ ज्ञान है। बौद्धिक रूप से जो उसको ग्रहण करने के अधिकारी होते हैं, वे ही उस शिक्षा को प्राप्त करने के भी अधिकारी होते हैं। इस शिक्षा का कभी सदुपयोग होता है, तो कभी दुरुपयोग। इसके असंख्य आयाम हैं। शिक्षित लोग बौद्धिक बल के अहम् से कई बार बहुत विकृत मानसिकता का जीवन व्यतीत करते हैं। वे अति संवेदनशील होते हैं। हृदय से शंकित एवं भयभीत रहते हैं। अत्याधिक शिक्षित लोग कभी–कभी किसी न किसी प्रकार के मानसिक रोग से ग्रसित हो जाते हैं, ऐसा हमारा चिकित्सा अनुभव है। शिक्षा एक भौतिक ज्ञान है, जिसके लिए शिक्षक चाहिए जो अक्सर भौतिक ही होता है। असंख्य प्रकार की शिक्षाएँ हैं, विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण हैं, जो सभी शिक्षा के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। आज विश्व में जो तथाकथित विकसित देश हैं वे अपने बौद्धिक चातुर्य में, शिक्षा के क्षेत्र में व तकनीकी में आगे हैं। उनको आज हम

विकसित देश कहते हैं। यदि हम अति विचारपूर्वक चिंतन करें कि क्या मानव बुद्धि जीवन के विभिन्न पहलुओं और विभिन्न आयामों के उत्तर देने में सक्षम है? सत्य तो यह है कि मानव बुद्धि के हाथ मे कुछ भी नहीं है। जैसा कि मैं कई बार इंगित कर चुका हूँ और यहाँ भी उसको क्रमबद्ध रूप में आपके सम्मुख प्रस्तुत करूँगा।

किस प्रकार मानव बुद्धि अपने में सीमित है? बुद्धि, मानव मस्तिष्क का उत्पाद है। वह मानव मस्तिष्क स्वयं गर्भकाल के तीसरे महीने में निर्मित होना शुरू होता है। ज़रा विचार करिए कि उससे पहले अवश्य किसी अन्य शक्ति ने मानव देह की नींव रखी होगी। किसने उसकी योजना बनाई ?अर्थात् मानव मस्तिष्क जिसका एक कार्य बुद्धि द्वारा सोचना भी है, इसके स्वयं के निर्माण के लिए कोई और बुद्धि पहले से ही कार्यान्वित हुई और किस प्रकार उसने **लगभग नौ महीने में एक कोशिका से कितनी परमोत्कृष्ट मानव देह की संरचना की, जो स्वयं पूर्णतया स्वचलित एवं वानानुकूलित है। यह अपने में एक चमत्कार है।** मानव देह की विभिन्न अवस्थाओं पर, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था, अति वृद्धावस्था एव मृत्यु पर यदि विचार करें, तो हम पायेंगे कि मानव देह की विभिन्न अवस्थाओं में से जो शैशवावस्था या बाल्यावस्था होती है जिस समय बालक की बुद्धि का विशेष विकास ही नहीं होता, उस समय उसकी जीवन की अत्याधिक सुविधायें स्वतः ही प्राप्त होती है। उसकी देख–रेख सबसे अधिक उसी समय होती है। यह एक नितान्त सत्य है। अर्थात् यदि हम जीवन में अत्याधिक सुख–सुविधाओं का भोग करना चाहते हैं, उसके लिए मानव बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि जब मानव बुद्धि विकसित होनी शुरू हो जाती है, तो वे सुविधाएँ छिननी शुरू हो जाती हैं। अति विकसित बुद्धि उन्हीं सुविधाओं का पुन. प्रबन्ध करना शुरू करती है जो उसको किसी समय अबोधावस्था में स्वतः ही प्राप्त थीं। इसके अतिरिक्त यदि हम एकाग्र होकर अपने अतीत की विशिष्ट घटनाओं का दिग्दर्शन करें तो हम पायेंगे कि जो आज तक के जीवन में जो विशेष घटनायें घटी, वे बिना हमारी बुद्धि के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से घट गईं। बुद्धि उन्हीं के अनुसार उस समय स्वतः प्रेरित हो जाती हैं। उसी प्रकार स्वतः ही वातावरण तैयार हो जाता है और वैसे ही व्यक्ति मिल जाते हैं।

आप न जावे ताहि पे, ताहि तहाँ ले जावे।

मानव, अचम्भित सा हो जाता है। घटनायें घट जाती हैं। इसमें बुद्धि की अपनी कोई भी भूमिका नहीं होती। इसके अतिरिक्त जीवन के विशिष्ट आयामों में अपनी विहंगम दृष्टि डालें, अमुक–अमुक स्थान, समय, माता–पिता एवं परिवार में हमारा जन्म क्यों होता है? अमुक प्रकार के विशिष्ट व्यक्ति हमारे जीवन में पति–पत्नी, भाई–बहिन एवं सगे–सम्बन्धी बन कर क्यों आते हैं ? हम विशिष्ट प्रकार की शिक्षा क्यों ग्रहण करते हैं? विशिष्ट स्थान पर क्यों निवास लेते हैं? हमको मरना कब है, कैसे है, और हम विशिष्ट प्रकार के व्यवसाय क्यों करते हैं? ये सब इस प्रकार के प्रश्न हैं, यदि हम इन पर विचार करें और उत्तर देना चाहें तो हमारी बुद्धि निरुत्तर हो जाती है। सत्य यही है। अर्थात् **मानव जीवन, मानव की बौद्धिक क्षमताओं से परे हैं।**

इसके अतिरिक्त यदि हम अपने भविष्य पर गहनता से विचार करें, तो हम पायेंगे कि हमारा अगला आने वाला श्वास हमारे हाथ में नहीं है। अर्थात् जब हमारे जीवन का नियंत्रण किसी अन्य शक्ति के हाथ में है, तो हम इसमें अपनी योजनायें बनाने वाले, कर्मों और कर्त्तव्यों को निर्धारित करने वाले कौन होते हैं? जिस जीवन का एक भी पल, एक भी श्वास हमारे हाथ में नहीं है, उस जीवन को चलाने वाले हम होने कौन हैं ? यदि हम बुद्धि से विचार करें, तो हमें ज्ञात होगा कि बुद्धि की एक–एक विधा किसी अन्य शक्ति के हाथ में है। वे ही स्वयं इस बुद्धि का निर्माता एव संचालन कर्ता है। हम इस संसार में लाये जाते हैं और उसी परम शक्ति द्वारा संसार से विदा कर दिये जाते हैं। हमारा यहाँ कोई कर्तव्य भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि हमारे बिना भी सारा संसार पहले से ही चल रहा था, अब भी चल रहा हैं और हमारे विदा होने के बाद भी चलता रहेगा। तो फिर यहाँ पर किस लिए लाये जाते हैं। मानव जैसे ही होश संभालता है तब से लेकर मृत्यु पर्यन्त अपने जीवन के विभिन्न कार्य–कलापों की निरर्थक भाग–दौड़ में लगा रहता है। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड एवं यह संसार महानाट्यशाला पाँच महाभूतों पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश से निर्मित है। यह महासागर यह पर्वतश्रृंखलाएँ, यह खुला आकाश, असंख्य तारागण, एवं नक्षत्र असंख्य जीव–जन्तु, अति सुन्दर वसुन्धरा, इसके सातों तल एवं मानव देह ये सब उस महान कलाकार की कृति है, जो हमारी बुद्धि से परे का विषय है। बड़े–बड़े वैज्ञानिक अपनी उत्कृष्टतम् बुद्धि द्वारा यदि विचारें कि **विज्ञान मानव बुद्धि का बाह्य प्रगटीकरण है, तो मानव बुद्धि किसका प्रगटीकरण है?**

वह भी तो कोई बुद्धि है, जिसने मानव की बुद्धि को बनाया है। नित्य असंख्य मानवों के मस्तिष्क को जो घटती है एवं उनको आकार देती है। मानव बुद्धि को जहाँ हम जीवन को चलाने के लिए, पालन करने के लिए, अन्य प्रकार की योजनाएँ बनाने के लिए और कर्तव्यों व कर्मों का बोझा ढोने के लिए प्रयोग करने लगते हैं, तो समझ लीजिए हम बुद्धि का दुरुपयोग कर रहे हैं और यह बुद्धि हमको अन्ततः दुखों में, कष्टों में, भयों में, विभिन्न प्रकार के त्रासों में अवश्य ले जाएगी। आज सारे विश्व में सम्पूर्ण मानव जाति भयभीत है।

बात शिक्षा पर चल रही है। शिक्षा, मानव की भौतिक बुद्धि की एक भौतिक उपज है और वह भौतिक बुद्धि जिसके अपने हाथ में कुछ नहीं है। यदि बुद्धि स्वयं में अधूरी है तो उसके द्वारा उसका उत्पाद यह **शिक्षा** अपने में कितनी अधूरी है, इसका अनुमान आप अपनी परमोत्कृष्ट बुद्धि से अवश्य लगा सकते हैं। यह मानव शिक्षा हमको कहाँ ले जाती है? जैसा कि मैं कई बार पहले भी कह चुका हूँ, कि क्या धन की, पद की, एवं विभिन्न प्रकार की सुख–सुविधाओं की प्राप्ति मानव को भोग और आनन्द दे सकती है? इन समस्त वस्तुओं की प्राप्ति का अधिकार तो हमें मिल सकता है, क्या उनके भोग और आनन्द का अधिकार भी मिल सकता है? कदापि नहीं। वह **भोग और आनन्द का अधिकार हमको तब तक नहीं मिलता है, जब तक हम अपनी भौतिक उपलब्धियों को ईश्वर समर्पित नहीं कर देते।** इस संसार में हमारा कुछ नहीं है, सब कुछ प्रभु का है। जब यह भाव आता है, आर्त्तनाद होती है एवं प्रार्थनाएँ होती हैं, तो प्रभु हमें उन वस्तुओं को आनन्दपूर्वक भोगने का अधिकार दे देते हैं।। जब हमको वह अधिकार मिल जाता है, तो वस्तुओं की भौतिक प्राप्ति की आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुएँ स्वयं चल कर हमारे पास आती हैं। इस सत्य से आप सब परिचित हैं।

उसके बाद शुरू होता है '**दर्शन**'। **दर्शन वह ज्ञान है जो बुद्धि से परे है।** यह बुद्धि का उत्पाद नहीं है। कुछ ऐसे जिज्ञासु मानव होते हैं, जो जीवन के उन प्रश्नों को जानना चाहते हैं जिनका उत्तर सर्वोत्कृष्ट मानव बुद्धि भी नहीं दे सकती। तो उनको जानने के लिए वे मानव बुद्धि से ऊपर उठ जाते हैं, किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से। अनुभूतियाँ होती हैं और उस अनुभूत ज्ञान को कहा है **दर्शन**। विवेकमय मानव बुद्धि इसको प्रमाणित कर सकती है। वह परम सत्य होता है, जो परिवर्तित नहीं होता। **दर्शन**

चूँकि सत्य का ज्ञान है। अतः वह ईश्वर के बारे में और ईश्वर के नियमों के बारे में मानव को इंगित करवाता है। इस सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार किन आयामों में होता है? सृष्टि के अपने नियम क्या हैं, जिनक अन्तर्गत महाकाल चक्र की विधाएँ चलती हैं, इन सबकी जानकारी होती है। मानव जन्म–जन्मातरों तक क्यों घूमता है? एक विशेष प्रकार का जीवन चलाने के लिए मानव बाध्य क्यों है? ये सुख–दुख, कष्ट, ये जीवन में ज्वार–भाटा क्यों आते हैं? इसके पीछे रहस्य क्या है? यह ज्ञान मिलता है दर्शन से, जिसको मानव बुद्धि मात्र प्रमाणित कर सकती है, लेकिन **न इसको संशोधित कर सकती है न इसमें हस्तक्षेप कर सकती है। मानव बुद्धि उस ज्ञान को प्रयोग में ला सकती है। अतः दर्शन वह ज्ञान है, जो न तो मानव बुद्धि का उत्पाद है और न ही मानव बुद्धि इसको विकसित, परिवर्तित व नवीनीकृत कर सकती है।** मानव जीवन को परमोत्कृष्ट, लाभान्वित एवं अति हितकारी बनाने के लिए मानव बुद्धि मात्र इसका प्रयोग कर सकती है। क्योंकि यह ज्ञान परम ईश्वरीय सत्ता के विशेष नियमों का आभास मानव को करवा देता है, जो अपने में सत्य होते हैं। इसलिए इसको कहा है **'दर्शन'**। क्योंकि ईश्वर के साक्षात् नियमों का और परम सत्य का दर्शन हो जाता है। ईश्वर सत्ता क्या है उसके बारे में ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए चाहिए मानव का विशेष स्तर जिसे कहा है **जिज्ञासु मानव**। मैंने मानव की मानसिकता के आधार पर मानव जाति को सात स्तरों में विभाजित किया है। **सबसे निम्न स्तर में आते हैं पशु मानव, फिर नर पशु, व्यष्टि मानव, समष्टि मानव, जिज्ञासु, मुमुक्षु एवं जीवमुक्त।**

जब ईश्वर के बारे में जानने की परम जिज्ञासा किसी मानव में उठती है, तो सद्‌गुरु स्वयं उसके पास चलकर आता है। यह किसी भी जिज्ञासु मानव की जाँच है। उसको सद्‌गुरु ढूँढ़ना नहीं पड़ता और जैसे ही जिज्ञासाएँ समाप्त होती हैं, तो सद्‌गुरु भी हट जाते हैं। क्योकि उस समय सद्शिष्य, सद्शिष्य नहीं रहता। वह एक विशेष प्रकार की मानसिक धारणा में आ जाता है, जिसका नाम है **मुमुक्षु**। वह मोक्ष पद का इच्छुक हो जाता है। उसको मोक्ष चाहिए बस मोक्ष। अर्थात् **जब मानव से मुमुक्षु बनता है, तो वहाँ पर सद्‌गुरु नही रहता और न ही सद्शिष्य रहता है। वहाँ मात्र ईश्वरीय शक्तियाँ और देव शक्तियाँ होती हैं, जो उस मुमुक्षु को**

अन्ततः मोक्ष की स्थिति में ले जाती हैं।

शिक्षा भौतिक है जो बुद्धि की उपज है। दर्शन, अनुभूति का विषय है, बुद्धि द्वारा प्रमाणित है और मानव अपने जीवन को परमोत्कृष्ट बनाने के लिए इसका प्रयोग कर सकता है। **अन्तिम पद है आत्मानुभूति, आत्म ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान जो मात्र ईश्वर इच्छा से ही होता है**, ईश्वरीय शक्तियों से ही होता है। जिसका वह परम ईश्वरीय सत्ता स्वयं ही किसी मुमुक्षु को अनुभव करवाती है। वह किसी भी मानव बुद्धि के बस का कार्य नहीं है। तो हमें यही यह स्पष्ट हो जाना परम आवश्यक है कि शिक्षा क्या है? दर्शन क्या है और आत्म ज्ञान क्या है?

आज का विषय है कि किस प्रकार हम अपनी शिक्षा को अत्याधिक गुणात्मक बना सकते हैं? मैं कई बार गिलास और गिलास के जल का उदाहरण दे चुका हूँ। उसका एक निश्चित आयतन है। उस आयतन से एक बूँद भी अधिक जल हम उसमें नहीं डाल सकते। यदि डालेंगे तो वह बाहर निकल जाएगा। यदि हम उसकी क्षमता को असंख्य गुणा बढ़ाना चाहते हैं, तो उसके लिए आवश्यक है, कि हम उस गिलास को सागर में डाल दें। **सागर में डालने के बाद उसका भौतिक आयतन वही रहेगा, जो सागर के बाहर था, लेकिन उसकी क्षमना असंख्य गुणा हो जाती है। उसी गिलास से हम असंख्य गुणा जल निकाल सकते हैं और गिलास भरे का भरा ही रहता है।** क्या हम इस भैतिक नियम का शिक्षा को अति गुणात्मक एवं आनन्दपूर्ण बनाने में प्रयोग नहीं कर सकते? किसी भी प्रकार की शिक्षा जो किसी भी शिशु के संस्कारों वश या परिस्थितियों वश दी जाती है। यदि हम उस सम्पूर्ण शिक्षा को ईश्वरीय बना दें, कि हे प्रभु! शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षाफल तुम ही हो और परीक्षा, परीक्षक परीक्षार्थी और परीक्षाफल तुम ही हो और जब हमें किसी प्रकार की इच्छा हो तो हे प्रभु इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल तुम ही हो। **किसी कर्म को करने के लिए यदि हम कर्म के कारण को, कर्त्ता को, स्वयं कर्म को और कर्मफल को यदि ईश्वर निमित्त कर दें तो हमारी समस्त भौतिक एवं सीमित शिक्षा व जीवन आध्यात्मिक हो जाएगा।** उस गिलास की तरह इसकी सीमा होते हुए भी यह असीम हो जायेगा, जिसको हमने समुद्र में डाल दिया है। यह एक आध्यात्मिक विधि है कि किस प्रकार हम अपनी समस्त शिक्षा एवं शैक्षणिक परिस्थितियों

को ईश्वरीय बना सकते हैं। भाव से यदि हम इसको ईश्वर समर्पित करते जाएं तो हम इसकी गुणात्मकता को असंख्य गुणा बढ़ा सकते हैं?

कितनी ही प्रकार की शिक्षाएँ एव व्यवस्थाएँ हैं। चिकित्सा क्षेत्र है, हिसाब–किताब हैं, वकालत है, गणित है, औद्योगिक विज्ञान है यदि हम इनके दार्शनिक स्वरूप को समझ लें, तो इनकी गुणात्मकता असंख्य गुणी हो जाती है। उदाहरण के लिए एक चिकित्सक जब मधुमेह के रोगी को देखता है, तो उसे ज्ञान होता है कि मधुमेह, मानव देह के किसी विशेष क्या अंग द्वारा उत्पन्न विशेष प्रकार के रस की कमी से प्रगट होता है। विशेष प्रकार की जीवन शैली बिताने में और विशेष प्रकार के आहार को लेने से यह रोग उत्पन्न होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह असंख्य प्रकार के उन लोगों को क्यों नहीं होता, जो उसी प्रकार का भोजन लेते हैं, उसी प्रकार की जीवन शैली बिताते हैं। यह अपने में बड़ा विचारणीय विषय है। वास्तव में हम पाएंगे, कि हर रोग के पीछे एक दार्शनिक तथ्य है। वह यह, कि **मानव की स्वयं की वृत्तियाँ ही एक विशेष प्रकार का रोग बन कर मानव की देह में कभी न कभी के प्रकट हो जाती हैं, जो कि नितान्त सत्य है।** यदि हम किसी भी रोगी को, विशेष प्रकार की दवाईयाँ देने के साथ–साथ उसकी उन वृत्तियों को भी समाप्त करने में उसकी सहायता करें तो उस रोगी को अवश्य लाभ होता है। इसी प्रकार वकालत आदि विषयों मे यदि हम अर्धसत्य की जगह पूर्ण सत्य पर अपनी विहंगम दृष्टि डालें, तो हमें वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान हो जायेगा। एक तो चोर है और दूसरा जिसके यहां चोरी होती है, इस पूर्ण सत्य में वे दोनों आ जाते हैं। इस पूर्ण सत्य पर यदि हम दार्शानक दृष्टि डालें, तो हमें ज्ञात होगा कि यहाँ पाप और पुण्य नाम की कोई संज्ञा नहीं है। हमारी विचारधारायें, हमारी जीवन की श्रंखलायें व हमारी सोच बदल जाती है। हम कुछ के कुछ बन जाते हैं। मानव बुद्धि सत्य की ओर प्रेरित होने लगती है, जिसमें एक विशेष आनन्द आने लगता है। तनाव कम हो जाता है। चिन्ता और भय समाप्त हो जाता है। अपने शैक्षणिक, बौद्धिक और भौतिक ज्ञान को मात्र दार्शनिक ज्ञान में समाहित करने के बाद। यदि उसको आध्यात्मिकता से ओत–प्रोत कर दें, तब तो कहना ही क्या है! वहाँ आनन्द ही आनन्द है। आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीवन–मरण के दृष्टिकोण बदल जाते हैं। लाभ, हानि, चिन्ता, भय सब दूर हो जाते हैं। एव विशेष उत्साह, एक विशेष हर्ष, उन्माद,

एक मस्ती, एक आनन्द का, साहस का और उत्साह का वातावरण चहुँ ओर दिग्दर्शित होने लगता है। यह एक परम सत्य है। हमारी संस्कृति में जन्म–जन्मातरों का उल्लेख है। हमारी समस्त भौतिक उपलब्धियाँ संसार से जाते समय यहीं रह जाती हैं। तो क्यों न हम अपनी शिक्षा को अति आनन्दमय बनाने के लिए इसके विभिन्न दार्शनिक पहलुओं में से होते हुए, इसे आध्यात्मिक जगत मे ले जाएं, ताकि हमारा जीवन अति आनन्दमय हो।

किस प्रकार हम अपनी शिक्षा को एक आध्यात्मिक स्पर्श दे सकते हैं। जब हम शिक्षा को ईश्वर समर्पित कर देते हैं तो हमारी शिक्षा, मात्र भौतिक शिक्षा नहीं रहती। कोई भी उत्कृष्टतम् मानव बुद्धि उसकी गणना नहीं कर सकती। मात्र यह धारणा कि, प्रभु! आप शिक्षा हो, शिक्षक हो, शिक्षार्थी हो और आप ही शिक्षाफल हो, पर्याप्त नहीं है, इसके साथ एक विशेष आध्यात्मिक विधि आपके सामने रख रहा हूँ। यदि कोई विधि का पूर्णतया पालन कर सकता है, तो उसकी यह भौतिक शिक्षा इतनी उत्कृष्टतम् हो जाती है कि अगले जन्मों में भी यही साथ चलती है।

अपने किसी प्रवचन में मैं वर्तमान के बारे में सविस्तार वर्णन कर चुका हूँ, कि **वर्तमान ही जीवन है, यही वर्तमान जिसमें हम अभी विचर रहे हैं, कभी भविष्य था और यही वर्तमान कभी अतीत बन जाएगा। भविष्य था और अतीत बन जाएगा।** बड़ा रहरयमय दृष्टिकोण है। शिक्षा द्वारा भविष्य में जो हम बनना चाहते हैं, यदि हम यह कुछ देर के लिए मान लें, कि हम वही बन चुके हैं और उसके पश्चात् अपनी सम्पूर्ण शिक्षा को और शिक्षा के फल को ईश्वर समर्पित करके पढ़ते हैं, तो वही हमारी शिक्षा तुरन्त पूर्णरूप से आध्यात्मिक हो जाती है। वह शिक्षा, ज्ञान में परिवर्तित हो जाती है। भले ही वह कैसी भी हो, देह की हो या देह द्वारा अधिग्रहीत विश्व की।

आपने कुछ बालक ऐसे देखे होंगे कि बचपन से ही उनमें कुछ विशेष प्रतिभाएँ व कुछ शैक्षणिक लक्षण होते हैं। समझिये कि वे पूर्व जन्मों से ईश्वर को समर्पित अपनी शिक्षाओं को अपने मानस पटल अंकित किये हुए साथ ही लेकर आते हैं। ऐसे मेधावी बालकों को शिक्षक का मात्र संकेत चाहिए। वे सीखे–सिखाये ही होते हैं। कुछ थोड़ी सी औपचारिकताओं की ही आवश्यकता होती है। यह बहुत गहन रहस्य मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। वे शिक्षा आनन्दमय, उल्लासमय, हर्षमयी और मुदिता से परिपूर्ण हो जाएगी। जब हम किसी शिक्षा को कुछ भौतिक पद, भौतिक डिग्रियों, विशेष भौतिक

अवस्थाओं, नाम, यश और सामाजिक स्थितियों की प्राप्ति करने के लिए प्राप्त करते हैं, तो ऐसी शिक्षाओं द्वारा यद्यपि हम उन अवस्थाओं को प्राप्त कर भी लेते हैं परन्तु अन्ततः जीवन निराशा मे ही व्यतीत होता है। न केवल शिक्षा बल्कि वर्तमान मे कोई भी ऐसा भौतिक शारीरिक मानसिक या बौद्धिक कर्म यदि करें और उस कर्म द्वारा जो भौतिक उपलब्धि हम चाहते हैं, मान लें कि वह उपलब्धि हो गई है। वह ही नहीं बल्कि उससे उत्कृष्टतम् अन्तिम उपलब्धि जो भौतिक जगत में हो सकती है, वह भी हो गई है। उस अवस्था में **हम उस कर्म को समर्पित भाव से ईश्वर निमित्त करते जाये तो वह भौतिक कर्म नहीं रहता, बल्कि वह उपासना बन जाता है।** इस भाव से यदि हम कोई कर्मकाण्ड या ईश्वरीय उपासना करें, उसका तो कहना ही क्या है! एक–एक क्षण, एक–एक पल उस मानव का ईश्वरीय आनन्द से सराबोर हो जाता है।

जो ईश्वरीय कर्म है, यज्ञ, हवन, दान, पुण्य इत्यादि वह भी अहम् भाव से न किये जाएं, उनको मात्र इस भाव से कि, हे प्रभु ! इनको आप ही करवा रहे हो और क्यों करवा रहे हो, मुझे न इसका कोई ज्ञान है और न मैं यह जानना चाहता हूँ। हे आनन्द स्वरूप ! मुझे एक–एक पल, एक–एक क्षण तुम्हारी उपस्थिति का, तुम्हारी समीपता का, तुम्हारे सान्निध्य का आभास हो। उस इच्छा को भी अपना न मानिए तो ऐसी अवस्था में किसी भौतिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक अथवा किसी शिक्षा में, किसी कर्म में समस्त भेद समाप्त हो जाते हैं। एक बहुत बड़ा भेद बहुत बड़ा रहस्य मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ।

शिक्षकों के लिए यह जानना अति आवश्यक है कि मात्र किसी छात्र का मेधावी होना और परीक्षाओं में अच्छे अंक लेना ही उनकी योग्यता का बहुत बड़ा प्रमाण नहीं है। हो सकता है जो बालक तथाकथित अनुतीर्ण होते, वे आपके शिक्षा संस्थानों के लिए बहुत बड़ी धरोहर साबित हो सकते हैं। ऐसा अक्सर होता है। विश्व का इतिहास उठाइए, आपको बड़े–बड़े योद्धा, बड़े–बड़े व्यवसायी, परमोत्कृष्ट ज्ञानी, आत्मज्ञानी, बड़े–बड़े लेखक, कलाकार, कवि, पेंटर और बहुत उत्कृष्ट खिलाड़ी एवं अन्य प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों में असाधारण उन्नति प्राप्त करने वाले ऐसे व्यवित मिलेंगे, जिन्होंने कभी शिक्षा सस्थानों का मुँह तक नहीं देखा। बड़े–बड़े राजनेता या वे लोग अपनी तथाकथित शैक्षणिक उपलब्धियों को नकार कर और बीच में ही छोड़ कर अपने जीवन के अन्य पहलुओं में या तो रवयं ही कूदते हैं या कूदने के लिए बाध्य हो जाते हैं। ऐसे

व्यक्तित्व, ऐसे अनेक महापुरुष आपको इतिहास में मिल जायेंगे। जो अनुभवी अध्यापक, यदि वह विचार करके देखें तो उनके जीवन में कई ऐसे छात्र अवश्य आए होंगे, जिनको उन्होंने उनकी शिक्षा में अयोग्य घोषित किया होगा। लेकिन आज वह ऐसी भौतिक अवस्थाओं में हैं, कि जो विश्व के लिए बहुत बड़ी धरोहर हैं। वे बालक जो कभी वर्षों पहले बहुत मेधावी रहें होंगे और जिनके अंकों के कारण शिक्षक बहुत प्रसन्न हुए होंगे उनमें से बहुत से विद्यार्थी आज निकृष्ट जीवन बिताते हुए साधारण नौकरियां करते हुए या बहुत बड़े अपराधों में लिप्त मिलेंगे। तो **परीक्षा में अच्छे अंक लेकर उत्तीर्ण होना परीक्षाफल नहीं है परीक्षाफल है, विद्यार्थी के जीवन का प्रतिफल।**

हर शिक्षा संस्थान के साथ कुछ दार्शनिक, कुछ संत भी जुड़े हों, जो ऐसे विद्यार्थियों का मनन करें, चिंतन करें और उनको परखे। कुछ मनोवैज्ञानिक प्रत्येक अग्रगण्य शिक्षा संस्थान के साथ जुड़े होने चाहिए। किसी परीक्षा मे अनुतीर्ण होने का अर्थ हो सकता है कि वह विद्यार्थी अपनी सोच को बदले, वह शिक्षा उसके लिए हो सकता है बहुत तुच्छ हो और ईश्वर की कृपा से यह बहुत बड़ी अन्य प्रतिभाएँ अपने साथ लेकर जगा हो। ईश्वर उससे कुछ ऐसा करवाना चाहते हों, जिसके सामने वह तथाकथित शिक्षा बहुत तुच्छ हो। ऐसा भी हो सकता है कि उसकी मानसिक प्रतिभाएँ जो जन्म से अपने साथ लेकर आया है वे उसको किसी अन्य प्रकार की शिक्षा के लिए प्रेरणा दे रही हो, और हम शिक्षक अथवा अभिभावक होने के नाते उसको नकार रहे हों। शिक्षा का अर्थ मात्र पुस्तकों या किन्हीं विषयों का अध्ययन करना नहीं है। आज शिक्षक और अभिभावक होने के नाते हमको अपना दिल–दिमाग खोलना होगा। यूरोपियन देशों मे अनुतीर्ण नामक कोई शब्द नहीं है। यह शब्द हम भी हटा दें। न जाने कितने विलक्षण बालकों को, ईश्वर ने किन प्रतिभाओं के साथ सम्पन्न कर पृथ्वी पर भेजा है। उनको मात्र हम कुछ ऐसे विषयों के लिए जिनका कोई महत्त्व नहीं है, अयोग्य घोषित कर न जाने उनको हम क्या–क्या संज्ञाएँ दे देते हैं, जो कि मैं अपराध समझता हूँ।

जैसा कि मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ कि हमारे देश से प्रतिभा का पलायन क्यों हो रहा है। बड़े–बड़े विलक्षण बुद्धि के और डिग्रियों वाले चिकित्सक, इंजीनियर इत्यादि आज भारत से डिग्रियाँ लेकर विदेशों मे उच्च शिक्षा के नाम चले जाते हैं। मान लीजिए वहाँ तकनीकी और अन्य भौतिक सुविधाएँ हमारे से अधिक भी हो सकती हैं। उनको प्राप्त

करके वे भारत में लौटकर क्यों नहीं आए? इस पर विचार होना चाहिए । कोई–कोई विरला ही आता है। तो वे प्रतिभायें, वह शिक्षा जो आप शिक्षकों ने उनको दी थीं उनका प्रयोग बाहर के देश करते हैं। वे बिक जाते हैं और अपनी भूमि उनको छोड़नी पड़ जाती है। वहीं प्रवासित हो जाते हैं। वहीं उनके बच्चे होते हैं और जब उनके बच्चे बड़े हो जाते हैं, तो वे अपने देश में लौटने का विचार भी नहीं कर सकते। ऐसे लोग अक्सर मानसिक निराशा में चले जाते हैं। उनसे अपना देश छूट जाता है, अपनी जन्म–भूमि छूट जाती है। तो शिक्षा सस्थानों में न केवल कुछ विषयों के अंकों पर और कुशाग्रता पर बल्कि अन्य भौतिक उपलब्धियाँ भी जो उस बालक में है, उन पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। शिक्षा का अपना महत्व होता है, लेकिन इससे अधिक अन्य वस्तुओं का महत्व भी है। हो सकता है कि वे बालक अपने साथ जन्म से ही कुछ ऐसी प्रतिभाओं को लेकर जन्मा हो, जो अपने में विलक्षण हों। न केवल वह आपके संस्थान, बल्कि देश का नाम पूरे विश्व में अपनी प्रतिभा के बल पर कर सकता है, इस बात को शिक्षकों को नहीं भूलनी चाहिए। कहने का अर्थ यह है कि मात्र, परीक्षा के अंक ही किसी बालक के पूर्ण मापदण्ड के लिए पर्याप्त नहीं है।

यदि लाखों में कोई ऐसा विद्यार्थी मिल जाये, जो परम ईश्वरीय भक्त हो आध्यात्मिक हो और उसको आप शिक्षक पहचान लें, तब तो बात ही क्या है? ऐसे महापुरुष पैदाइशी ही महापुरुष होते हैं। उनका आचार, व्यवहार उनके प्रत्येक कार्यक्रम बड़े विचित्र होते हैं, पागलों जैसे भी होते हैं। उनको समझने के लिए भी कोई विशेष ईश्वरीय कृपा से युक्त शिक्षक हों। गुरु नानकदेव जी महाराज बहुत शान्त, प्रकृति के व्यक्तित्व रहे। इतने सुन्दर और ह्रष्ट–पुष्ट। उनकी किसी भी सांसारिक वस्तु में कोई रुचि नहीं थी। उनको उनके पिता ने व्यापार में डाला, तो एक ही दिन में वह सारी दुकान गरीबों मे बाँटकर खाली हाथ शाम को वापिस लौट आए कहा कि, **मैंने सच्चा सौदा कर दिया है**। साधू–महात्माओं को, गरीबों को दुकान का सारा सामान बाँट दिया। कि, 'यह तेरा ही तेरा है। हे प्रभु। सर्वत्र तुम ही विराजमान हो। यह सब कुछ तेरा ही तेरा है। मैं इसका पैसा क्यों लूँ।' अब ऐसे लोगों को समझना बड़ा मुश्किल होता है, उनको किसी को अपने आपको समझाने की आवश्यकता भी नहीं होती। यदि सौभाग्य से किसी संस्थान में गुरु संदीपन के पास कृष्ण आ जाए, तो वह स्थान, अगामी आने वाले

हजारों वर्षों के लिए एक तीर्थ बन जाता है **'महातीर्थ'**। तो **शिक्षा को अत्याधिक गुणात्मक बनाने के लिए शिक्षकों की और शैक्षणिक संस्थाओं की सोच बदल दीजिए।**

किसी विद्यार्थी का विशेष चेतनता का स्तर क्या है, उसकी भी जाँच होनी चाहिए। हो सकता है लाखों में कोई ऐसा विद्यार्थी आ जाए, जिसमें चेतना का महास्तर है और जिसके संकल्प मात्र से न केवल एक देश बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड चल रहा है, तो किसी बालक को उसकी आयु या उसके भौतिक परिवार की परिधियों या परिस्थितियों से नहीं नापा जाना चाहिए। यदि हम उत्कृष्ट शिक्षा देना चाहते हैं, तो सम्पूर्ण शिक्षा आध्यात्मिक एवं दार्शनिक होनी चाहिए। उसके बाद उसकी गुणात्मकता की कोई भी उत्कृष्ट मानव बुद्धि गणना नहीं कर सकती।

किसी भौतिक शिक्षा के दार्शनिक पहलू को देखना अति आवश्यक है। जितना भी विज्ञान है वह मात्र, मानव बुद्धि का बाह्य प्रगटीकरण है लेकिन मानव बुद्धि किसका प्रगटीकरण है, यह भी जानना बहुत आवश्यक है। कोई ऐसा बहुत बड़ा मस्तिष्क, कोई ऐसी परम बुद्धि है जो दिखाई नहीं देती, लेकिन है। हज़ारों मानव शिशु प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं। वे सक्षमतम् ईश्वरीय बुद्धि जिनकी प्रतिदिन संरचना करती है। यदि हम अपनी तुच्छ मानव बुद्धि से हटकर अपनी उस शिक्षा का दार्शनिक स्वरूप देखे, तो उसकी गुणात्मकता अंसख्य गुणा हो जाती है।

मानव के रोगों का अध्ययन करते हैं और उसके अनुसार उनका उपचार करते हैं, तो यही प्रश्न यह उठता है, कि अमुक व्यक्ति को यह रोग क्यों हुआ ? मानव बुद्धि से परे जाकर इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढना चाहें तो अवश्य मिल जाते हैं। कुछ विशेष ऐसी रुग्ण मानसिक मानविक वृत्तियाँ हैं, जो कि किसी भी मानव देह में विभिन्न प्रकार के रोग बन कर उत्पन्न होती हैं। यदि हम उन वृत्तियों को भी पकड़ लें, तो हमें किसी भी असाध्य रोग का कारण मालूम चल जाता है। वह कारण ज्ञात होने से यदि कोई चिकित्सक, किसी विशेष रोगी के वैज्ञानिक उपचार के साथ–साथ उन वृत्तियों को शांत करने में या उनकी दिशा परिवर्तित करने में सहायता कर दे, तो उस रोगी को एक स्थाई आरोग्यता मिलती है। यदि वह रोग पूर्णतया न भी नष्ट हो, तो कम से कम किसी रोगी की सोच में सकारात्मकता तो आ सकती है। उस रोग के कारण उसके शारीरिक

और मानसिक कष्ट तो कम हो सकते हैं। यह तभी सम्भव है यदि हम दार्शनिक तथ्यों द्वारा, अपनी भौतिक बुद्धि से हटकर, किसी विशेष रोग का अध्ययन करते हैं मानव की वृत्तियो के अनुसार, तो इसे कहा है **चिकित्सा दर्शन**।

किसी भी भौतिक उपलब्धि के भोग के लिए यह आवश्यक है कि आप उसको पूर्णतया ईश्वर समर्पित कर दें अन्यथा वस्तुएँ तो प्राप्त हो जायेगी, धन, संतान, सम्पदा व डिग्रियाँ मिल जायेगी लेकिन वे सब आपके भय का कारण बन जायेंगी जब तक आप उसको ईश्वर समर्पित नहीं कर देते। यह है शिक्षा के समर्पण के पीछे का दर्शन। जीवन का लक्ष्य क्या है? अर्थ क्या है? यह जानना अति आवश्यक है। नहीं तो यह बौद्धिक शक्ति एव तथाकथित उच्च शिक्षायें मानव को विक्षिप्त कर देती हैं। जिन आकांक्षाओं को लेकर हम उन्हें ग्रहण करते हैं, वे आकाक्षायें कभी पूर्ण नहीं होंगी, कभी असीम की संतुष्टि नहीं मिलेगी और जब तक असीम की संतुष्टि नहीं मिलेगी, तो हमारी भौतिक प्राप्तियों हमको भोग जायेंगी, यही परम सत्य है। इसलिए आज शिक्षकों को सब प्रकार से या किसी भी प्रकार से न केवल शैक्षणिक बल्कि उसके साथ दार्शनिक तथा आध्यात्मिक होना अति आवश्यक है। आज हमें उन पुरानी परम्पराओं को पुनः जागृत करना है, अनाच्छादित करना है, जो समाप्त नहीं हुई हैं, छिप गई हैं।

।। जय जय श्री राम।।

सम्बन्धों का वर्गीकरण

अपने इष्ट प्रभु श्री हनुमान जी की प्रेरणा से आज आपके सम्मुख मानवीय सम्बन्धों के बारे में कुछ विचार प्रस्तुत करूँगा। इस संसार में आकर मानव समय–समय पर कई प्रकार के सम्बन्ध बना लेता है और उन सगे–सम्बन्धियों के कारण जीवन को सुखद बनाने की आकांक्षा करता है। जीवन कितना सुखद हो जाता है, अपने सगे–सम्बन्धियों के कारण, यह एक बहुत रहस्यमय एवं विचारणीय विषय है।

यह सम्बन्ध ही अक्सर मानव के हृदय में तीव्र वेदना, कष्ट, विशेष, भय एवं त्रास के कारण बनते हैं। मुख्यतः जिसे हम भौतिक सम्बन्ध कहते हैं, यह सम्बन्ध या तो अपने माता–पिता के साथ एवं माता–पिता के विभिन्न सम्बन्धियों के साथ होते हैं या फिर अपनी संतान के साथ व संतान के विभिन्न सम्बन्धियों के साथ होते हैं और या फिर पति–पत्नी का सम्बन्ध और उनके सम्बन्धियों के कारण होते हैं। यह भौतिक सम्बन्ध जो कि आरोपित होते हैं, अक्सर कई प्रकार की ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य और पारस्परिक मन–मुटाव इत्यादि का कारण बनते हैं। इनमें औपचारिकताएं होती हैं। हाँ! सुख–दुख में ऐसे सम्बन्धों का प्रादुर्भाव एवं आवागमन होता है और कई प्रकार के खट्टे–मीठे एवं तीक्ष्ण अनुभव होते हैं। यही सम्बन्ध प्रशंसा एव आलोचना का विषय भी बनते हैं। अक्सर सांसारिक व्यक्ति इन सम्बन्धों पर ही निर्भर रहते हैं और कैसे भी हो वे जीवन इन सम्बन्धों में ही काटते हैं। कभी किसी से मन–मुटाव हो जाये तो ऐसा सम्बन्धी हृदय से दूर हो जाता है। लेकिन किसी अन्य अवसर पर वह स्वार्थवश या अन्य कारणों वश फिर करीब आ जाता है। इस प्रकार मिला–जुला सा और परिवर्तनशील स्वभाव होता है और कई प्रकार के विभिन्न अनुभव होते हैं, ऐसे अति भौतिक सम्बन्धों में। इन्हें स्वार्थजन कह सकते हैं।

दूसरे प्रकार के भी भौतिक सम्बन्ध ही होते हैं लेकिन वे अपने माता–पिता, अपनी पत्नी अथवा पति और संतान इत्यादि के कारण नहीं होते। **ऐसे सम्बन्ध स्वतः हो जाते हैं** और हृदय से कोई भाई, कोई बहिन, कोई माँ, कोई पिता या पुत्र इत्यादि के रूप में मिल जाता है औग् इतने घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाते हैं, कि वह सम्पूर्ण जीवन भर चलते हैं। यद्यपि ऐसे सम्बन्ध भी भौतिक ही होते हैं, लेकिन आरोपित सम्बन्धों की अपेक्षा

यह ज्यादा सुखद होते हैं। **ऐसे सम्बन्धों में स्वजन मिल जाते हैं।** जैसा कि मैं अपने पिछले प्रवचनों में वर्णन कर चुका हूँ, कि **स्वजन वह व्यक्ति है जिसके बारे में याद करने से, सोचने से और जिसको मिलने से एक विशेष हार्दिक प्रसन्नता होती है।** हमारे जीवन में जब कोई कष्ट आता है, तो ऐसे स्वजनों के आगमन से वह कम हो जाता है और जब कोई विशेष प्रसन्नता का उत्सवमय वातावरण होता है, तो स्वजनों के आगमन से उसकी प्रसन्नता, उसका हर्ष एवं उल्लास बढ़ जाता है। इनसे मिलकर आनन्द आता है। इनके सम्पर्क में रह कर आनन्द की वृद्धि होती है और इनके बिछुड़ने के बाद इन्हें बार–बार मिलने की एक तीव्र हार्दिक इच्छा बनी रहती है। यह सम्बन्ध शायद पूर्व जन्मों से होते है, स्वतः होते हैं। इन्हें हम **स्वजन** कह सकते हैं।

तीसरे प्रकार के भी **भौतिक सम्बन्ध होते हैं, लेकिन भौतिक होते हुए भी यह एक–दूसरे के हित चिन्तक होते हैं।** एक दूसरे का हित देखते हैं, कल्याण के बारे में सोचते हैं, पारस्परिक प्रेम, श्रद्धा, विश्वास एव आत्मीयता होती है उनमें। अपने माता–पिता एव संतान व पति–पत्नी के द्वारा ये सम्बन्ध होते हैं और ये भौतिक होते हुए भी आध्यात्मिक स्तर के सम्बन्ध होते हैं। तो इन्हें कहा गया है **भौतिक–आध्यात्मिक सम्बन्ध।** अपने सगे भाई बन्धु कभी–कभी ऐसा लगता है कि आपके साथ आध्यात्मिक स्वरूप मे जुड़े हुए हों और वह आप ही का स्वरूप हों। इनके साथ कोई विशेष आपचारिकतायें नहीं होतीं। यह बन्धन का नहीं परन्तु खुलने का प्रतीक होते हैं और सदा कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए लालायित रहते हैं। ऐसे सम्बन्ध बड़े दुर्लभ होते है, लेकिन होते हैं।

चौथे, ऐसे भी **भौतिक सम्बन्ध होते हैं, जो अति भौतिक होते हैं, लेकिन उनमें एक विचित्रता होती है, कि समाज या हम स्वयं उन सम्बन्धों को जिस भौतिक सम्बन्ध के नाम से जानते हैं, वे नहीं होते।** कहने को कोई भाई है लेकिन आत्मीयता से, व्यवहार से वे पिता के समान होता है। कहने को पुत्र है लेकिन वह पिता के समान, भाई इत्यादि के समान होता है। कहने को कोई बहन है या पुत्री है लेकिन वह माँ तुल्य प्रेम देती है और वह माँ के समान होती है। तो ऐसा भी अक्सर देखने को मिलता है, कि भौतिक जगत में सम्बन्ध कुछ और होता है, लेकिन

वास्तविकता का सम्बन्ध कुछ और होता है ऐसे भौतिक सम्बन्ध भी देखने को मिलते हैं। यह भी स्वजनों की कक्षा में ही आते हैं।

पाँचवें प्रकार के **सम्बन्ध वे हैं, जो भौतिक तो होते ही हैं, लेकिन उन भौतिक सम्बन्धों में भी कभी–कभी कोई सद्गुरु मिल जाता है आत्मोत्थान के लिए, जागृति के लिए कोई प्रेरक मिल जाता है।** उन्हीं सम्बन्धों में कई बार अपना पिता अपना पुत्र अपनी पुत्री इत्यादि अपने सद्गुरु के रूप में मिल जाते हैं। जीवन के कंटकाकीर्ण मार्ग को प्रशस्त बनाते हैं। हित–चिन्तक होते हैं ऐसे लोग। ऐसा लगता है मानों पूर्व जन्मों से अपना सद्गुरु ही इस भौतिक जगत में कोई न कोई सम्बन्धी बनकर हमारे सम्मुख आ गया हो। **ऐसे विचित्र होते हैं ये भौतिक सम्बन्ध।**

छठे प्रकार के सम्बन्ध बड़े रहस्यमय होते हैं। जब कोई मानव अन्तिम सत्य को जानने के लिए जिज्ञासा की उस पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है, कि वह मुमुक्षु पद में आ जाता है और अन्ततः जीवनमुक्त हो जाता है। उस महान स्थिति में पहुंचने के बाद कुछ व्यक्ति उनके समीप आ जाते हैं। उनका आचरण, उनका व्यवहार सब कुछ बदल जाता है। ऐसी स्थिति में जो–उनके भौतिक सगे–सम्बन्धी होते हैं, वह उनकी आध्यात्मिक शक्ति व आध्यात्मिक तरंगों को, कई बार सहन नहीं कर सकते। किसी न किसी कारणवश, संकोचवश या ईर्ष्यावश वे उनसे दूर हो जाते हैं और कुछ श्रद्धालु सम्बन्धी उनके समीप श्रद्धावश एव विनम्रतावश रहते हैं। ऐसे महापुरुषों के सान्निध्य में मात्र वही व्यक्ति रहते हैं, जिनको उनके प्रति अति श्रद्धा होती है या जो स्वयं भी जिज्ञासु होते हैं और आध्यात्मिक जगत में प्रविष्ट करने के लिए अपनी भौतिक सीमाओं का उल्लंघन कर जाते हैं और आध्यात्मिक जगत में प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे सम्बन्धी अपना स्वरूप ही होते हैं, मानो एक देह कई नाम व रूपों में हो। इन सम्बन्धों को कहा है **स्वरूप जन** ।

यह छः प्रकार के भौतिक सम्बन्ध जिनका मैंने वर्णन किया है, ये अक्सर इस संसार में देखे जाते हैं और एक सातवां **महासम्बन्ध** है, जो पूर्णतया आध्यात्मिक होता है। जहाँ पर भौतिकता की कोई गंध ही नहीं होती। यह है **सद्गुरु और सद्शिष्य का सम्बन्ध।**

जैसा कि मैं कई बार वर्णन कर चुका हूँ कि मानव, ईश्वर के बारे में जब जानना चाहता है, तो वह सर्वप्रथम ईश्वर को मानता है। फिर एक ऐसी स्थिति आती है, कि अति उत्कृष्ट उत्कण्ठा एवं जिज्ञासा उसको ईश्वर के बारे में जानने के लिए प्रेरित करती है और यह जिज्ञासा मानव को कुछ भी करने को बाध्य कर देती है। अपना घर–बार, राज–पाठ, पद, धन, संतान और न जाने क्या–क्या मानव दाँव पर लगा देता है। अपने प्राणों तक की परवाह नहीं करता। बस, उसे तो उस परम सत्ता सच्चिदानन्द ईश्वर के बारे में जानने की असीम लालसा, आकांक्षा बल्कि महत्वाकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। तो जब ऐसी परमोत्कृष्ट इच्छा मानव के हृदय एवं मस्तिष्क में उत्पन्न होती है, तो उसे कहा है **महाजिज्ञासु। ऐसी अवस्था के उत्पन्न होते ही जब वास्तव में वह सद्शिष्य बन जाता है, तो उसके सामने सद्गुरु स्वयं प्रकट हो जाता है या ईश्वरीय शक्ति उसको ऐसे स्थान पर ले जाती है, जहाँ उसे सद्गुरु अवश्य मिल जाता है। सद्शिष्य की परिपूरक विधा है सद्गुरु।** ऐसी स्थिति में सद्गुरु का मिलना परमावश्यक है। उसे सद्गुरु न मिले, ऐसा हो ही नहीं सकता। सद्गुरु मिलता है, उसके हदय की विभिन्न ग्रथियों को खोलता है और उसकी जिज्ञासा को, उसके प्रश्नों को और उसके हृदय में उठती हुई तरंगों को शान्त करता है। उसके प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं। सद्गुरु कई प्रकार की यौगिक और आध्यात्मिक क्रियायें बताता है ताकि स्वयं उसको अपनी जिज्ञासा को शांत करने का अवसर मिले।

सद्गुरु हर प्रकार से उसकी सहायता करता है और शनैः–शनै वही सद्जिज्ञासु ईश्वर के बारे में बहुत कुछ जान जाता है। **अन्ततः वह ईश्वर को जानना चाहता है।** ईश्वर के बारे में जानने के बाद ईश्वर को जानने के लिए जब उसकी उत्कंठा और परम महत्वाकांक्षा उत्पन्न होती है, तो वो अब सद्जिज्ञासु नहीं रहता। अब वह मुमुक्षु पद में आ जाता है। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि जब मानव की यह स्थिति आती है तो उसके जीवन से सद्गुरु हट जाता है। वह स्वयं भी सद्शिष्य नहीं रहता। **सद्शिष्य भाव और सद्गुरु भाव के अविरल एवं अकाट्य सम्मिश्रण से बना हुआ भाव है, जिसका नाम है मुमुक्षु।** वहाँ सद्शिष्य अथवा सद्गुरु नाम की संज्ञायें नहीं रहती। आगे का मुमुक्षु पद बहुत संकरा मार्ग है, जिस पर एक और मात्र एक

ही चल सकता है। उसके ह्रदय में कोई प्रश्न व कोई जिज्ञासा नहीं रहती। मात्र, अपने प्यारे से, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से मिलन की तड़पन ही रहती है। न वहाँ गुरु होता है व न ही शिष्य। वह किसी भी प्रकार से और हर प्रकार से अपने इष्ट का सान्निध्य चाहता है, उसकी समीपता चाहता है, उससे जुड़ना चाहता है उसके लोक में बसना चाहता है और उसके स्वरूप का अधिग्रहण करना चाहता है या फिर अन्ततः कैवल्य पद में जाना चाहता है, जहाँ ज्योति में ज्योति समा जाती है। साकार उपासकों के लिए चार प्रकार के मोक्ष हैं। या तो वह अपने इष्ट का सान्निध्य पा लेता है किसी भी सम्बन्ध में, इसे कहा है **सामीप्य मोक्ष** या अपने इष्ट की देह के साथ, उसके गले का हार बन कर, खड़ाऊं इत्यादि बन कर जुड़ जाता है, इसे कहा है **सायुज्य मोक्ष**। या फिर वह अपने इष्ट के लोक में ही वास करता है। जहाँ भी जाता है, उसे यही आभास होता है कि वह अपने इष्ट के लोक में ही है। वहाँ उसके इष्ट की ही सरकार होती है, परम स्थिर सरकार, जो जन्म–जन्मों में उसके साथ चलती है, इसे कहा है **सालोक्य मोक्ष**। कोई आराधक या उपासक कई बार अपने इष्ट का ही स्वरूप हो जाता है, उसके हाव–भाव, उसका चेहरा और उसका डील–डौल अपने इष्ट की तरह हो जाता है। तो इसे कहा है **सारुष्य मोक्ष**।

अन्तिम सम्बन्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध है जो सद्शिष्य और सद्गुरु का होता है। वह सम्बन्ध शुरू होता है जब मानव जिज्ञासु बन जाता है और वह समाप्त होता है जब उसकी जिज्ञासा शान्त हो जाती है। यदि किसी के जिज्ञासु से मुमुक्षु पद में पहुँचने के बाद भी कोई सद्गुरु चिपका रहे, तो वह **सद्गुरु स्वयं मुमुक्षु नहीं हो सकता**। यह बहुत अकाट्य सत्य है। तो **सांतवे प्रकार का सम्बन्ध भौतिक नहीं होता, मात्र आध्यात्मिक होता है।** ऐसी अवस्था में, जैसा कि मैं छठे प्रकार के भौतिक सम्बन्ध में थोड़ा वर्णित कर चुका हूँ, जब मानव पूर्णतया आध्यात्मिक जीवन बिताने लगता है जब उसका दिव्य आपा जाग्रत होने लगता है, तो उसके अन्य सम्पूर्ण सम्बन्ध आध्यात्मिक हो जाते हैं। भौतिक जगत को वह पार कर जाता है, उसकी सीमाओं के पार चला जाता है, लेकिन भौतिक जगत उससे छूटता नहीं है। बल्कि वह सम्पूर्ण भौतिक जगत उसके स्वयं के आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने के पश्चात् अपने में आध्यात्मिक

हो जाता है। वह बन्धन–मुक्त हो जाता है। किसी भौतिक सम्बन्ध में उसका बन्धन नहीं होता। मन, बुद्धि सब परिवर्तित हो जाते हैं। सब कुछ बदल जाता है। दृष्टि ऊंची उठ जाती है व बदल जाती है। चहुँ ओर मात्र अपना ही या अपने इष्ट का स्वरूप ही नज़र आता है।

आप ही मोरे नयनवा, पलक ढाँप तोहे लूँ,
न मैं देखूँ औरन को, न तोहे देखन दूँ।

ऐ मेरे इष्ट! मेरे प्यारे ! मेरे नेत्रों में बस जाओ और मैं नेत्र ढाँप लेती हूँ, ताकि न तुम किसी और को देख पाओ और न मैं किसी और को देख पाऊँ। यदि मेरे कभी नेत्र खुल जायें और मैं किसी को देख भी लूँ ,तो या तो वह तेरा स्वरूप हो, या फिर मेरा। मेरे और तुम्हारे अतिरिक्त कुछ भी न हो। **यह है आध्यात्मिक दृष्टि, जहाँ जीव को सर्वत्र स्वयं का स्वरूप या इष्ट का स्वरूप ही नज़र आता है।** एक नाम असंख्य रूप, एक रुप अंसख्य नाम एवं असंख्य नाम व असंख्य रूपों में, सर्वत्र उसको अपना इष्ट ही नज़र आता है। तो यह है परम आध्यात्मिक दृष्टि। वहाँ समस्त भौतिक सम्बन्ध लय हो जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं या रूपान्तरित हो जाते हैं। आध्यात्मिक सम्बन्धों में कोई औपचारिकता नहीं होती। कोई बन्धन नहीं होता, कोई ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य नहीं होता, घृणा नहीं होती। अपनत्व होता है, अधिकार होता है। इतना अधिकार मानो स्वयं की वृहद देह विभिन्न नामरूप में उपासक के सम्मुख हो। ये समस्त सम्बन्ध अपनी देह का अंग ही लगते हैं और अंग होते ही है। उपासकों की या आध्यात्मिक लोगों की देह बहुत वृहद होती है। यहाँ पर **अधिकार प्रथम होता है और उस पर तथाकथित सम्बन्ध दूसरे स्तर पर होते हैं।** उस अधिकार को सम्बन्धों का क्या नाम दिया जाये यह कोई विशेष महात्म्य नहीं रखता। **भौतिक सम्बन्धों में प्रथम रूप में सम्बन्ध होते हैं और उन पर अधिकार हो या न हो यह आवश्यक नहीं है।**

आध्यात्मिक सम्बन्ध छूटने के हेतु होते हैं। वह सम्बन्ध, बंधन के हेतु नहीं होते। धर्मातीत, कर्मातीत, देशातीत, कालातीत, कर्त्तव्यातीत ऐसी मानसिक स्थिति में पहुँचने के लिए ये सम्बन्ध सहायक होते हैं। भले ही ऐसे आध्यात्मिक सम्बन्धी

विश्व में कितनी दूर रहते हों, परन्तु सदा उनका सामीप्य बना रहता है। उनके साथ हार्दिक या मानसिक समीपता होती है। किसी के साथ पत्र व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं होती। जब कभी तीव्र मानसिक इच्छा होती है, तो ऐसे आध्यात्मिक सम्बन्ध वाले व्यक्ति सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। यहाँ पर उनसे मिलना और बिछुड़ना भी कोई महातम नहीं रखता। सदा आनन्द का हेतु होते हैं। उनके आगमन से पहले हृदय में विशेष आनन्द की स्थिति होती है। उनके साथ जब सम्पर्क होता है तो एक विशेष आनन्द की स्थिति बन जाती है और उनसे बिछुड़ने के बाद उन्हें पुनः मिलने की आनन्दमय इच्छा होती है। तो ऐसे सम्बन्ध आनन्दमय होते हैं, अपना आत्मस्वरूप होते हैं। अपनी आध्यात्मिक देह के अंग होते हैं जो जन्मों–जन्मान्तरों तक हमारे साथ चलते हैं। विभिन्न प्रकार के नामरुप धारण कर वे जन्मों–जन्मान्तरों में उचिततम् समय एवं स्थान पर हमें फिर मिल जाते हैं और उनको मिलने के बाद तुरन्त उन पर एक अधिकार की स्थिति बन जाती है। यही पहचान होती है आध्यात्मिक सम्बन्धों की।

जैसे–जैसे जिज्ञासाएं बढ़ती हैं, मानव ईश्वर की ओर अग्रसर होता है तो उसके भौतिक जगत में परिवर्तन होने लगता है। अन्ततः भाव से व विचार से भौतिक जगत की सीमाओं का उल्लंघन हो जाता है एवं मानव आध्यात्मिक जगत में प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि **आध्यात्मिक जगत का कोई प्रारम्भ, अन्त या मध्य नहीं होता। ये अपने में असीम है।** इसलिए आध्यात्मिक जगत में प्रवेश ही माना गया है। इसमें प्रवेश होने के पश्चात् सम्पूर्ण भौतिक जगत आध्यात्मिक हो जाता है। भौतिक जगत की सीमायें हैं, जबकि आध्यात्मिक जगत असीम है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आध्यात्मिक हो जाता है ऐसे महामानव के लिए। उसकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक सम्बन्ध, प्रत्येक श्वास एवं प्रत्येक प्रकरण आध्यात्मिक हो जाता है। यदि इस संसार में आकर हम अपने आध्यात्मिक स्वरूप को प्राप्त नहीं होते, जो कि हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, तो समझिये हमारा जीवन अधूरा है क्योंकि भौतिक जगत में जो भी प्राप्तियाँ हैं, चाहे वह पद हो, धन हो, सम्पदा हो, स्त्री हो, संतान हो, एवं अन्य भौतिक सम्बन्ध हों, इस देह की समाप्ति के बाद ही समस्त भौतिक प्राप्तियाँ अपना अस्तित्व खो देती हैं। **हमारे साथ चलता है मात्र हमारा आध्यात्मिक स्वरूप एवं अधिकार**। जो अगले जन्मों में

पुनः स्वरूप धारण करता है। जहाँ–जहाँ हमारा अधिकार होता है, उस अधिकार के अनुसार वह विशेष व्यक्ति या विशेष वस्तुएँ हमारे सामने उचिततम् देश काल में प्रस्तुत हो जाती है और इस प्रकार अगामी जन्मों का सिलसिला चलता है। ये कुछ तथ्य मैंने भौतिक एवं आध्यात्मिक सम्बन्धों के बारे में अति सूक्ष्म रूप में आपके सम्मुख रखे हैं ताकि हम अपने आध्यात्मिक सम्बन्धों में विचरते हुए आनन्दपूर्वक जीवन बिता सकें।

।। जय जय श्री राम। ।

नाम एवं रुप की सृष्टि

आज इष्ट प्रेरणा से आपके सम्मुख एक अति विचारणीय विषय प्रस्तुत कर रहा हूँ। विषय का नाम है **नाम एवं रूप की सृष्टि**। मानव शिशु, जब संसार में आता है, तो उसका कोई नाम नहीं होता। उचित समय पर उसको एक नाम दे दिया जाता है। शिशु का विकास क्रमशः होता रहता है और जब बुद्धि पूर्णतः विकासित हो जाती है, तो एक विशिष्ट नाम एवं रूप से उसकी पहचान होती है। यहाँ आवश्यक यह नहीं है कि कोई उस मानव को अमुक नाम व रूप से जानता है, **आवश्यक यह है कि वह स्वयं को भी उसी नाम और रूप से जानने लगता है।** यहाँ से शुरू हो जाती है आसक्तियों की श्रृंखला और जन्म–जन्मान्तरों की व्याधियाँ, कष्ट, दुख, भय और न जाने क्या–क्या। उस सच्चिदानन्द ईश्वर, जो स्वयं में ठोस घन शिला है, जो स्वयं में अजर, अमर, अनादि एवं अनन्त है। जो धर्मातीत, कर्मातीत, कालातीत, देशातीत, मायातीत एवं माया के तीनों गुणों से अतीत है। ऐसे उस ईश्वर की सृष्टि में उसने यह मानव, मात्र नाम और रूप की उपाधि को ग्रहण करने के पश्चात् कितने ही प्रकार की व्याधियों से, धर्मों से, कर्मों से, देश से, नाम से, काल से, सम्बन्धों से और माया के तीनों गुणों एवं कर्तव्यों से ग्रसित हो जाता है और न जाने किस–किस प्रकार के कष्टों में यह जीवन बिताने लगता है।

अब प्रश्न यह उठता है, कि किस प्रकार नाम और रूप की उपाधि मानव को विभिन्न प्रकार की व्याधियों से ग्रसित करती है और किस प्रकार उस व्याधि से छुटकारा पाया जाए ? क्योंकि बिना नाम के तो किसी मानव को इंगित ही नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति रात को सोता है तो **उस समय वह स्वयं में अपने नाम और रूप की उपाधि में नहीं होता।** उस सोये हुए मानव का कोई धर्म, कर्म, कर्त्तव्य देश, काल व कोई सम्बन्धी नहीं होता, लेकिन वह स्वयं में होता है। जब हम इस गहन विषय पर विचार करते हैं, तो देखते हैं कि वास्तव में वह ही **शिव पद** है।

सुषुप्ति में कोई भी मानव अपने स्वयं के निराकार स्वरूप में होता है। नाम और रूप की उपाधि वाली स्थूल देह में नहीं होता। उसको शास्त्रों ने कहा है '**आनन्दमय कोष में प्रवेश**।' सुबह जागृत होता है और जागृत होते ही क्षण भर में वह

अपनी सारी सृष्टि का निर्माण करता है। लेकिन **यहाँ विचारणीय बात यह है कि सृष्टि के निर्माण से पहले वो स्वयं का निर्माण करता है।** अपने आपको एक विशेष नाम व रूप में पहचानता है। वहीं से शुरू हो जाती है उसके कर्मों व कर्त्तव्यों की श्रृंखला एवं उसके सम्बन्धों, स्थान, समय और अन्य सब प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति। **इसे कहा है ब्रह्मा पद।** उसी के अनुसार वह दिन भर कार्य करने लगता है। अपने स्वयं से निर्मित सृष्टि का पालन–पोषण करने लगता है और वह स्वयं ही **विष्णु पद** में आ जाता है। जब समस्त दिन भर वह कार्य करता हुआ अन्ततः मानसिक व शारीरिक रूप से थक जाता है तो वह शयन करना चाहता है। उस समय यदि किसी अति धन के लोलुप, संतान से मोह करने वाले, बड़े पद या अन्य प्रकार की सांसारिक अथवा भौतिक प्राप्तियों के इच्छुक को इन समस्त वस्तुओं की याद दिलाई जाये, तो वह किसी की बात नहीं सुनना चाहता। वह मात्र सोना चाहता है। विशिष्ट एकाग्रता का विषय है। जिस पद के लिए, जिन तथाकथित कर्त्तव्यों एवं मर्यादाओं के लिए, धर्मों के लिए, कर्मों के लिए संतान के लिए परिवार के लिए, देश के लिए वह दिन–रात भाग–दौड़ करता है मारा–मारा फिरता है, झगड़े करता है, तनाव लेता है और तनावों से ग्रसित हो जाता है अन्ततः उन सब से विश्राम पाने के लिए वह पुनः अपनी उस नामरूप से विलग स्थिति में प्रवेश करना चाहता है जिसको कहा है **सुषुप्ति**। अर्थात् **जितने भी धर्म, कर्म, कर्त्तव्य, काल, देश इत्यादि जो भी ये समस्त व्याधियाँ हैं ये मात्र हमारी नाम व रूप की सृष्टि में प्रवेश करने के साथ शुरू होती हैं।**

एक, नामरूप की उपाधि इन समस्त व्याधियों को आमंत्रित करती है और हम उसमें उलझ जाते हैं। जीवन समाप्त होने को आता है। पुनः बहुत सी आसक्तियाँ हमको घेरे रखती हैं। जीवन समाप्त हो जाता है लेकिन आसक्तियाँ समाप्त नहीं होती और **वही आसक्तियाँ हमें फिर जन्म दिलवाने के लिए बाध्य करती है और यही कार्यक्रम अगामी जन्म–जन्मांतरों में चलता रहता है।** इस प्रकार मानव काल चक्र में ग्रसित हुआ घूमता रहता है, लेकिन इस तथ्य को पहचानता नहीं है कि समस्त उलझन उसे मात्र स्वयं को अपने नामरुप में ही जानने के कारण हुई थी। महामानवों के मस्तिष्क में बहुत बार प्रश्न उठता है कि ईश्वर स्वयं में सच्चिदानंद है तो उसकी दृष्टि

सच्चिदानंद क्यों नहीं है? **सृष्टि वास्तव में सच्चिदानंद है। उस परम पिता परमात्मा की इस महासृष्टि में कुछ भी ऐसा नहीं है जो सच्चिानन्द से विलग हो।** लेकिन मानव से एक छोटी सी भूल हो गई। यह नाम, मात्र उसकी पहचान के लिए और उसे बुलाने के लिए दिया गया था, लेकिन मानव ने इस नाम और रूप को ही अपना स्वरूप मान लिया। फलस्वरूप उस सच्चिदानन्द ईश्वर की संतान एक तुच्छ जीव बनकर रह गई। संसार के विभिन्न सुखों–दुखों का भोक्ता एवं कर्मों तथा कर्त्तव्यों का कर्त्ता बनकर न जाने जन्म–जन्मान्तर में कितने कष्टों से ये ग्रसित हो गया। किसी को नाम देना कोई त्रुटि नहीं है। **लेकिन उस नाम में अपना स्वरूप समझ लेना कि 'मैं यही हूँ' यहाँ से शुरू होता है जड़ और चेतन की ग्रन्थि का निर्माण।** जैसे ही हम उस जड़ और चेतन की ग्रन्थि में प्रवेश करते हैं, तो वहीं से होता है भाग्य अथवा प्रारब्ध का निर्माण।

मानव के कर्म दो प्रकार के होते हैं। प्रथम, वह कर्म जो जीवन के लिए किये जाते है, पालन–पोषण इत्यादि के लिए जो कि पशु–पक्षी जगत भी करता है। यहीं यह कहना आवश्यक है कि ऐसे कर्म, **स्वतः भाव से एव आनन्द में होते हैं। यह स्वतः भाव से होने वाले कर्म आनन्द से शुरू होते हैं और आनन्द में ही होते हुए अन्ततः आनन्द में ही समाप्त हो जाते हैं।** जीवन चलता रहता है। दूसरे कर्म वे हैं कि जब महामानवों के मस्तिष्क में एक ज्वलन्त प्रश्न कौंधने लगता है, कि जीवन काहे के लिए है? यहाँ वह 'जीवन के लिए' किए कर्मों से विमुख नहीं होता, बल्कि उनको विशेष महातम नहीं देता। क्योंकि वे तो स्वतः होने ही थे, होते ही हैं। अपितु वे मुख्यतया उन कर्मों व विचारों में एकाग्र करता है कि 'जीवन काहे के लिए है? महापुरुषों ने उस दिशा में किए गए समस्त कर्म **'पुरुषार्थ'** की श्रेणी में माने हैं, जिनका विस्तार से पहले ही वर्णन किया जा चुका है। मैं पृथ्वी पर बार–बार क्यों लाया जाता हूँ? मुझ में और मेरे आत्म स्वरूप में क्या सम्बन्ध है? यदि कोई सम्बन्ध है तो वह उजागर क्यों नहीं होता? इत्यादि। असंख्य प्रश्नों की श्रंखलायें मन–मस्तिष्क में कौधने लगती हैं तो कोई भी महामानव 'जीवन के लिए' किए गए कर्मों से उपराम होकर 'जीवन काहे के लिए' है अपने जीवन का लक्ष्य मात्र उसी को बना लेता है और उसी दिशा में कार्य करने

लगता है। ऐसी दिशा में किए गए **'पुरुषार्थ कर्म' मानव को किसी प्रारब्ध में नहीं बांधते और ईश्वर द्वारा सम्पादित एवं प्रतिपादित 'जीवन के लिए' कर्म भी उसको प्रारब्ध बंधन में नहीं बांधते।**

बंधन शुरू कहां होता है? जब मानव अपनी बुद्धि के अहम् से समझने लगता है, कि उसे ही जीवन के लिए सब कुछ करना है। उसे ही अपना परिवार चलाना है एवं अपना भरण–पोषण करना है। अपने स्थान का, अपने धर्म का, अपने देश का और न जाने कितने प्रकार के तथाकथित कर्त्तव्यों का बोझ अपने ऊपर लाद लेता है, **जिसका प्रारम्भ होता है अपने नाम और रूप में अपना स्वरूप समझने की भूल से। स्वयं को कर्त्ता मान लेता है। वहाँ से प्रारम्भ होता है प्रारब्ध का।** कभी पुण्य, कभी पाप, कभी शुभ, कभी अशुभ, कभी अच्छा व कभी बुरा, न जाने वह स्वयं में क्या–क्या बनता रहता है। उसी के अनुसार भोगता भी रहता है। अन्ततः मृत्यु आ जाती है। कुछ न कुछ आसक्तियाँ शेष रह जाती हैं। जो उसको पुनः जन्म दिलवाने के लिए पर्याप्त होती हैं।

यदि यहाँ प्रश्न किया जाये कि क्या किसी मानव ने अपना जन्म अथवा अपनी मृत्यु देखी है? क्या किसी मानव ने अपने आपको सुषुप्ति अवस्था में देखा है? तो उत्तर होगा, नहीं। कौन जन्म लेता है ? कौन मरता है? कौन सोता है? एक ही उत्तर है कि मानव के नाम–रूप की उपाधि और उस उपाधि से जन्म लेती है व्याधि। वह ही जीवन की विभिन्न घटनाओं में से विचरती है, सुख, दुख, वास, भय, विक्षेप से ग्रसित होती है और वही नामरूप की उपाधि मृत्यु को प्राप्त होती है। उस नामरूप से विलग उसका आत्म स्वरूप जो वास्तविक स्वरूप है वह न जन्म लेता है, न उसकी मृत्यु होती है न वह सोता है। वास्तव में इसका वही सच्चिदानन्द स्वरूप सब प्रकार के ऐश्वर्य, सौन्दर्य, बल, ख्याति, ज्ञान व त्याग से विभूषित एवं हर्ष, अभय, आरोग्यता से सम्पन्न, उस सच्चिदानन्द ईश्वर की संतान है।

तो इस नाम रूप की व्याधि से किस प्रकार उभरा जाए, किस प्रकार बचा जाये तथा किस प्रकार उसको काटा जाये ? उसके कुछ उपाय है क्योंकि बिना नामरूप के किसी भी मानव का इस जीवन में कोई स्थान नहीं होता, कोई पहचान नहीं होती एवं कोई

अस्तित्व नहीं समझा जाता। जबकि स्वयं में उसका अस्तित्व है। हम अपने नाम–रूप में और उस उपाधि में ग्रसित होकर अपने समस्त संसार का निर्माण करते हैं। अपने सगे–सम्बन्धी, माता, पिता, भाई, बहिन, पति, पत्नी और तथाकथित धर्म, कर्म, कर्त्तव्य, स्थान, देश, काल विभिन प्रकार की पदवियां और न जाने किस–किस वस्तु पर आधारित **जितना भी किसी व्यक्ति का संसार है, वह मात्र उसके स्वयं के नामरूप पर ही आधारित है। पहले स्वयं को मान्यता देने के बाद हम सम्बन्धों को मान्यता देते हैं।** सब सम्बन्ध नश्वर हैं, क्षणिक हैं। सम्बन्धों में मान्यता देने के बाद उन सम्बन्धों से सुख कम और दुख अधिक मिलता है। जो संसार हमें मिलता है वह बिछुड़ता भी है। यदि वह नहीं बिछुड़ता तो हम उससे बिछुड़ जाते हैं। संसार में जो आता है, वह जाता है। जब हम कुछ पाते हैं तो खोते भी है। तो इन सब समस्याओं से, इन विक्षेपों से दूर होने के लिए क्यों न हम किसी ऐसी परम सत्ता से सम्बन्ध स्थापित कर लें जो अजर है, अमर है, कालातीत, देशातीत एव कर्त्तव्यातीत है।

वह है परम ईश्वरीय सत्ता। क्यों न हम उसको भी किसी न किसी आकार व किसी नाम और रूप में मान लें जैसा कि हम सांसारिक लोगों को जन्म–जन्मान्तरों से एक आदत पड़ी हुई है और यह रुचि हमारी एक प्रतिभा बन गई है। इस प्रतिभा का परम सदुपयोग करते हुए यदि हम उस ईश्वरीय सत्ता को भी नाम और रूप में मान ले और उसके साथ भी उसी प्रकार का एक सम्बन्ध स्थापित कर लें जिस प्रकार कि हमने संसार में सांसारिक लोगों से किया है। जब वह सम्बन्ध अति घनिष्ठ एवं अति परिपक्व हो जाता है तो शनैः–शनैः सांसारिक सम्बन्ध ढीले पड़ने लगते हैं। यह एक परम सत्य है और अनुभव का विषय है। जिस प्रकार कि एक कन्या विवाह के बाद अपने ससुराल जाती है। सर्वप्रथम विवाह के बाद अपने पति के साथ उसका सम्बन्ध होता है और ससुराल में जितने भी अन्य सम्बन्ध सास, ससुर, ननद आदि के बनते हैं, वे मात्र उसके पति के कारण ही बनते हैं। इसी प्रकार यदि इसी प्रतिभा को हम ईश्वरीय सम्बन्धों में जोड़ लें और जितने भी सम्बन्ध संसार में बनाये वह मात्र ईश्वर के कारण ही बनाये, तो हम इस प्रतिभा को ईश्वरीय नाम और रूप से जोड़ने के पश्चात् एक आनन्दमय स्थिति में आ जाते हैं। यही नाम और रूप हमारे आनन्द का, उल्लास और अभय का विषय बन जाता

है। यद्यपि यह कठिन कार्य है। इसके पश्चात् यदि हम निरन्तर अपने इष्ट के ध्यान में, उसके नाम में, चिंतन में, मनन में, उसी के वार्तालाप में व उसी के सान्निध्य में अपना जीवन बितायें और अपने इष्ट में समाहित हो जायें, तो एक परिवर्तन आता है कि हम संसार की नामरूप की सृष्टि से बहुत परे हो जाते हैं। हमारी यह नामरूप की उपाधि एक विशिष्ट और उत्कृष्ट आयाम ले लेती है। वही नामरूप जो हमारे सुख–दुख का, भय और विक्षेप का कारण बनता था, वही नामरूप हमको अभय, हर्षोल्लास, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता एवं ऐश्वर्य की ओर ले जाता है। इस नामरूप की व्याधि से उभरने के लिए यह आवश्यक है कि विवेक बुद्धि के द्वारा हम अपनी इस प्रतिभा का सदुपयोग करें। जब हम ईश्वरीय कोटि में अपनी इस प्रतिभा का प्रयोग करते हैं, तो एक समय ऐसा आता है कि हम नाम एवं रूप से और इसके द्वारा उत्पन्न विभिन्न तनावों से विक्षेपों से, भय से, त्रास से मुक्त हो जाते हैं। वही नाम–रूप का बंधन जिसे हमने संसार में प्रयोग किया, जन्म–जन्मान्तरों में और उलझ गए मकड़ी के जाल की तरह। तो मकड़ी जिस प्रकार अपना जाल स्वयं बुनती है, अन्ततः उसमें स्वयं फँस जाती है और उससे बाहर आने के लिए मकड़ी को अपना जाल स्वयं एक तरफ से काटना पड़ता है। उसी प्रकार जन्म–जन्मान्तरों से हम अपने नाम और रूप को अपना स्वरूप मानकर इस भयानक व्याधि से ग्रसित हो जाते हैं। प्रत्येक सांसारिक मानव अपने में इस व्याधि से ग्रसित है। इससे छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस नाम–रूप की उपाधि को ईश्वर के नाम रूप से जोड़ दे। ईश्वरीय सत्ता स्वयं में निराकार है। तो क्यों न हम उस ईश्वरीय सत्ता को भी अपनी रुचि के किसी नाम और रूप में मान लें और आनन्दमय जीवन बिताये!

।। जय जय श्री राम। ।

सरस साधना

साधना अथवा तप यह पर्यायवाची हैं। नेत्रों का, जीभ का, कानों का, गंध का, स्पर्श का, जितना भी तप है, उसकी सीमा इन्द्रियों तक ही है। इसमें भोग्य पदार्थों से इन्द्रियों को वचिंत कर दिया जाता है या साधक एक ऐसा निर्जन स्थान ढूँढता है, जहाँ इन्द्रियों के भोग के साधन ही न हों ताकि इन्द्रियों को उनके सुख की स्मृति ही न आये। भोग्य पदार्थों का इन्द्रियाँ जो सुख देती हैं, वास्तव में उसे वे स्वयं कहाँ से लेती हैं? उनके पास अपना तो कोई सुख है ही नहीं। इन्द्रियाँ तो तंत्रिका तंत्र की विशेष उपकरण है, देह में। जैसे आप नाक द्वारा गंध लेते हैं। जीभ से गंध नहीं ले सकते, स्वाद लेते हैं। कर्णों से संगीत सुन सकते हैं, आँखों से संगीत नहीं सुन सकते, मनमोहक दृश्य देख सकते हैं। त्वचा से सुन्दर स्पर्श का अनुभव करते हैं। **इन्द्रिय सुख वास्तव में हमारे भीतर के आनन्द से उत्पन्न होता है।** यदि हमारे भीतर का आनन्द लुप्त हो जाये तो इन्द्रियाँ हमको कोई भी सुख नहीं दे सकती। यदि हमें किसी प्रकार से मानसिक विक्षेप है या हम त्रसित हैं, तो भोग्य पदार्थ उपलब्ध होने पर भी इन्द्रियाँ हमको सुख नहीं दे सकतीं।

आपके सम्मुख स्वादिष्ट भोजन पड़ा हुआ है, जीभ भी है लेकिन हृदय में किसी प्रकार का कष्ट है, तो आपका उस भोजन को छूने का मन भी नहीं करता। यदि जीभ में अपना सुख होता तो कष्ट के समय भी वह सुख दे पाती। इसी प्रकार आपके स्वस्थ कर्ण भी है और बहुत सुन्दर संगीत भी है, लेकिन आपके हृदय में यदि किसी प्रकार का त्रास हो या चिंता हो तो आप उस संगीत को सुनना पसन्द नहीं करेंगें। वही संगीत आपको विक्षेप देगा। अर्थात् इन्द्रियाँ अपनी क्षमता के अनुसार, आपके भीतर के आनन्द से जो अथाह है एवं असीम है, सुख ले लेती हैं। **आनन्द असीम है और इन्द्रिय सुख सीमित है इसलिए भोग की सीमा है।** इन्द्रिय सुख असंतुष्टि की तरफ क्यों ले जाता है? क्योंकि इन्द्रियाँ सीमित हैं। **वास्तव में ईश्वर ने इन्द्रियाँ बनाई इसलिए हैं कि मानव को अपने भीतर के आनन्द का भास होता रहे।** अज्ञानवश मानव यह तो सोचता ही नहीं, कि उसे सुख मिल कहाँ से रहा है? तप की

सीमा इन्द्रियों तक है। भोग में हम इन्द्रियों की क्षमता तक ही सीमित रहते हैं। यदि हम काफी समय तक फीका भोजन करें सुगंध का सेवन न करें अथवा कानों से संगीत सुनना बंद कर दें, तो हम इन्द्रियों को नकारने का असफल प्रयास करते हुए अपने आनन्दमय स्वरूप तक पहुंचना चाहते हैं।

भोग और तप में अन्तर है। भोग में हम इन्द्रिय सुख की ओर लालायित हो जाते हैं। जब वे अपनी क्षमता के अनुसार हमको सुख दे देती हैं तो बार–बार हमें इन्द्रिय सुख लेने की चाह होती है और हम अज्ञानवश यह भूल जाते हैं, कि वे हमारे भीतर के अपने आनन्द को ही सुख में परिवर्तित करके दे रही हैं। किसी कारणवश, हमें यदि भोग्य पदार्थ प्राप्त न हों या इन्द्रियाँ उनको भोगने की क्षमता खो दें, तो हम निराश हो जाते हैं। जैसा कि वृद्धावस्था में अक्सर निराशा हो जाती है। लेकिन योगी तप करता है और उसके तप की सीमा भी इन्द्रियों तक ही है। **तप प्रक्रिया क्यों है? तप प्राप्ति क्यों नहीं है? क्योंकि तप भौतिक है।** तप का अर्थ लिया जाता है, इन्द्रियों को जानबूझ कर नकारना। इन्द्रियाँ स्वस्थ हैं, पदार्थों की उपलब्धि भी है, लेकिन तप द्वारा इन्द्रियों को उनके भोगों से वंचित कर दिया जाता है। अन्यथा इन्द्रियों को शिथिल कर दिया जाता है। इन पर नियंत्रण करना अति कठिन कार्य है। अक्सर साधकों की सम्पूर्ण एकाग्रता इन्द्रिय निग्रह तक ही रह जाती है। कोई–कोई विरला इस मार्ग द्वारा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, परन्तु कई साधक इतने विक्षिप्त हो जाते हैं, कि वे कई प्रकार के मानसिक रोगों से ग्रसित हो जाते हैं एवं आत्महत्या तक कर लेते हैं। दूसरी ओर, भोगी भी मानसिक तनावों से ग्रसित हो जाते हैं क्योंकि या तो उन्हें भोग्य पदार्थ सदा उपलब्ध नहीं होते और यदि उपलब्ध होते भी हैं तो इन्द्रियों अक्षम हो जाती हैं।

एक व्यक्ति अपने आपको जीभ के सुख से वंचित किये हुये है। तो जीवन में कभी न कभी स्वादिष्ट पदार्थ तो उसके सम्मुख आयेंगे ही। एक व्यक्ति अपने आपको काम सुख से वंचित किये हुये है, तो जीवन में कभी न कभी तो वह समाज में आयेगा ही। एक व्यक्ति अपने कानों को संगीत से वंचित किये हुये है, वह कभी न कभी जीवन में उसको संगीत सुनने को मिलेगा ही। इसी प्रकार नेत्रों का सुख है, त्वचा का सुख है व नाक का

सुख है जिससे साधक को हमेशा अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों के पास जाने से सतर्क रहना पड़ता है। कभी–कभी ऐसे साधक अपने स्वरूप का दिग्दर्शन भी कर लेते हैं। परन्तु ऐसा भी देखा गया है कि कभी–कभी वे अपने इन्द्रियों के विषय के लिए बहुत लोलुप हो जाते हैं। जबकि दूसरी तरफ जो भोगी है उसका लक्ष्य इन्द्रियों का सुख है जिनकी एक क्षमता होती है। जब भोग्य पदार्थ उपलब्ध न हों या इन्द्रियाँ क्षमता खो दें तो भोगी वहीं पर निराशा में प्रवेश कर जाता है।

ईश्वर ने इन्द्रियों का निर्माण इसलिए नहीं किया था कि मानव उसके सत्य स्वरूप से परे रहे। **इन्द्रियों का निर्माण मात्र इसलिए किया था, कि मानव इन इन्द्रियों के सुखों पर यह विचार करे, कि यह आ कहाँ से रहा है? अगर इन्द्रियाँ न होतीं तो ईश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप का अस्तित्व ही कोई न जानता।** नेत्रों ने सुन्दर दृश्य को देखा, वाह–वाह कहा। सुख लिया नेत्रों से। लेकिन वह सुख आया कहाँ से? इसके आनन्द स्वरूप से। इन्द्रियाँ हमें अपने आनन्द स्वरूप का प्रतिपल भास करवाती है, ताकि मानव विवेक बुद्धि द्वारा यह विचार करे, कि मैं इन्द्रियों का सदुपयोग कैसे करूँ? उनको उनके भोगों से वंचित करना, यह कोई उचित मार्ग इसलिए नहीं है कि आप कब तक उनको उनके भोगों से वंचित रखेंगे? जो सम्भव ही नहीं है।

पाश्चात्य् संस्कृति क्या है? **उनका सारा मन, तन, धन, बुद्धि, एकाग्रता, सब कुछ इन्द्रियों के सुख तक ही सीमित है। देह से देह तक। जितनी देह की दौड़ है वह मात्र देह तक है।** विचार करके देखिये, धन है तो और धन कमा लें, बड़ी कोठी, बड़ा बगला चाहिये, बड़ी गाड़ी चाहिये, सुन्दर गहने चाहिएँ। भोग काहे का है? **आँखों का।** स्वादिष्ट व्यजन चाहियें, भोग काहे का है? **जीभ का।** खूब धन कमा लो, मुझे नाम मिल जाये, किसका नाम? **मेरा नाम।** कानों के सुख के लिए अच्छे से अच्छे संगीत चाहिये। **जितनी समस्त मानवीय दौड़ है, साधारणतः देह तक ही सीमित है।** देह से, देह तक, देह के साथ, देह के लिए और उनका लक्ष्य क्या होता है? उनके लिए देह ही सब कुछ है। जबकि **उपासक की दौड़ ईश्वर से**

ईश्वर तक होती है ईश्वर के साथ। और ज्ञान क्या होता है कि ईश्वर ही सब कुछ है।

तथाकथित साधकों ने पिछले कुछ समय में ऐसा विचार किया है, कि इन्द्रियों का खूब भोग करो, उनकी क्षमता से परे चले जाओ। जब उनकी क्षमता फिर जागृत होगी तो फिर क्या होगा? ऐसा भी दुष्प्रचार हुआ है। इन्द्रिय निग्रह अपने में बहुत क्रूर है। यदि **हम विवेक बुद्धि से विचार करें, तो क्या ऐसा मार्ग हो सकता है कि हम इन्द्रियों का सम्मान करते हुए उनको अपने सुखों से भी वंचित न करें और अपने आनन्द स्वरूप में भी पहुँच जाये!** जो लोग इन्द्रियों का निग्रह करके अपने स्वरूप तक पहुँचने का दावा करते हैं, उनसे यह पूछिये कि इन्द्रियों के भोग्य पदार्थ जब आपके सामने होंगे, तो उस समय आपकी स्थिति क्या होगी?

आपके पास भोग्य पदार्थ भी हैं और आपके पास स्वस्थ इन्द्रियाँ भी हैं। आपको देह दी गई है। ईश्वर ने दी है यह मानव देह और आप पृथ्वी पर लाये गये हैं। आपके लिए पदार्थ बनाये गये हैं। उनको नकार के, क्या आप ईश्वरीय लीला का अपमान तो नहीं कर रहे ? तो क्या कोई ऐसा उपाय हो सकता है जिसके द्वारा हम इन्द्रियों का यथोचित सम्मान करते हुये, संसार में विभिन्न प्रकार के भोगों का भोग इन्द्रियों द्वारा करते हुये हम अपनी **अतीन्द्रिय आनन्द** की स्थिति में पहुंच जायें? सुनने में बड़ा सरल परन्तु थोड़ा कठिन मार्ग है। उसके लिए **एक दैवीय प्रकरण है कि हम इन्द्रियों को उनकी क्षमताओं के भीतर ही उनके सुख का परित्याग करके उन्हीं के द्वारा अपने अतीन्द्रिय आनन्द मे प्रवेश कर जायें।** उदाहरण के लिए 'काम सुख' में पाँच प्राण शक्तियाँ मूलाधार में ही एकत्रित होती हैं। जिज्ञासु मानव के लिए इसे महारति कहा है, भगवान शंकर और शक्ति की महारति। तो पाँच प्राण मूलाधार में एकत्रित होते हैं। जब हम जीभ का सुख लेते हैं, तो दो प्राण एकत्रित होते है, नाक के सुख में दो प्राण, नेत्रों के सुख में तीन प्राण और कर्णो के सुख में दो प्राण एकत्रित हो जाते हैं उसमे। ऐसी कोई भी योगिक क्रिया नहीं है पांताजल योग में भी, कि जो पाँच प्राणों को मूलाधार में एकत्रित कर सकें। **यह है महारति और उसमें उसका प्रयोग एक क्षणिक इन्द्रिय सुख के लिए न करके जब हम पाँचों**

प्राणों को उर्ध्वगति में ले जाते हैं, जिसको कहा है उर्ध्वरता। उर्ध्वरता का मतलब वीर्य को ऊपर चढ़ाना नहीं है। स्त्रियों में वीर्य कहाँ होता है? तो योगी एवं योगिनियाँ पाँचों प्राणों को मूलाधार मे एकत्रित करके उसी शक्ति को ऊपर ले जाते हैं और उनका **ब्रह्मरन्द्र** खुल जाता है। **कुण्डलिनी** इत्यादि शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। उस एकत्रित महाप्राण शक्ति को एकाग्रता द्वारा, जाप द्वारा ब्रह्मरन्द्र में ले जाते हैं। अपने में यह बहुत कठिन प्रकरण है। अब इन्द्रियों की स्थिति क्या होती है ? जब आप बार–बार इन्द्रियों का प्रयोग अपने अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवेश करने के लिए करते हैं, तो इन्द्रियाँ सम्मानित हो जाती हैं। क्योकि आप उनका प्रयोग उस आनन्द में जाने के लिए कर रहे हैं, जहाँ से वे आनन्द लेती हैं। **वे इन्द्रियाँ ऐसे साधक की सेविका बन जाती हैं। यही राजयोग का रहस्य है।** इसमें इन्द्रिय निग्रह बड़ा विशिष्ट निग्रह है, जहाँ उनको नकारा भी नहीं जाता। इन्द्रियों को उनकी क्षमता से भी वंचित नहीं किया जाता। क्षमता से वंचित कब करेंगे? जब उस महाप्राण शक्ति को जो मूलाधार में इकट्ठी हुई है, हमने क्षणिक इन्द्रिय सुख में समाप्त कर दिया। यह सरलतम मार्ग है। इसे अपनाने के लिए सद्‌गुरु एवं इष्ट कृपा का होना अति आवश्यक है अन्यथा यह प्रकरण सम्भव नहीं है। **यह सरस साधना है। ऐसे साधकों की इन्द्रियाँ स्वयं आनन्दमयी हो जाती हैं।** ऐसे महापुरुष वृद्धावस्था में भी बड़े आकर्षित रहते हैं, समाज के लिए भी, स्वयं के लिए भी और परिवार के लिए भी। तो यह साधना का उचिततम् मार्ग है।

यहाँ कुछ विशेष तथ्य मैं आपके सम्मुख रखना चाहता हूँ, वह यह कि जब एक साधक संतुलित जीवन बिताते हुए, अपनी देह का एवं इन्द्रियों का सम्मान करते हुए, उनका भोग करते हुए और उनकी क्षमताओं के समाप्त होने से पहले ही अपने अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवेश करते हुए सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है। तब उसका आवरण हट जाता है और वह परमानन्द की स्थिति में आ जाता है तथापि उसके बाद भी देह और इन्द्रियों को नकारा नही जा सकता। अपनी वास्तविक स्थिति और स्वरूप में प्रवेश करने के बाद भी देह धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। चूँकि **देह ही एक ऐसा आधार है,**

जहाँ से कोई भी देहधारी अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को पाने के लिए उड़ान भरता है। वास्तव में, जैसा कि मैं वर्णन भी कर चुका हूँ, कि ईश्वर ने परम चमत्कारी देह के निर्माण के साथ विभिन्न प्रकार की सांसारिक वस्तुओं का भोग एवं सुख लेने के लिए इसमें विशिष्ट तंत्रिका तत्रिकाओं से युक्त इन्द्रियों का निर्माण किया। यद्यपि वे समस्त इन्द्रिय जनित सुख मानव की भीतरी आनन्दमय स्थिति पर ही निर्भर होते हैं तथापि इन इन्द्रियों का अपना एक विशिष्टतम् महातम है। ईश्वरीय संरचना की यह परम उत्कृष्ट कृति है। अन्ततः इन इन्द्रियों के द्वारा भोग पदार्थों से जनित अनिर्वचनीय सुख की प्राप्ति करते हुए कोई साधक उस ईश्वर के साथ तारतम्य स्थापित कर सकता है। यहाँ मैंने जो अनिर्वचनीय सुख कहा, इस पर में आपकी एकाग्रता चाहूँगा। उदाहरण के लिए कोई अति स्वादिष्ट मिष्ठान चखने के लिए हमने अपनी जीभ का प्रयोग किया। उसको चखने के बाद यदि हमसे कोई प्रश्न पूछे कि इसका स्वाद कैसा है, तो हम कहेंगे मीठा। यदि कोई उस मीठे का वर्णन करने के लिए हमें कहे, यह मीठा कैसा है, तो यह जीभ उस स्वाद को मीठा तो बता सकती है, लेकिन मीठा है कैसा, यह कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। यह बड़ी रहस्यमय बात मैं आपके सामने रख रहा हूँ कि इन्द्रिय जनित उस सुख को भी कोई मानव वर्णित नहीं कर सकता। यह साक्षात् प्रमाण है कि **ईश्वर ने अपने आनन्द स्वरूप का जो इन्द्रियों द्वारा परिणत सुख है, उसको भी मानव अनुभव तो कर सकता है लेकिन वर्णित नहीं कर सकता।** वह भी अनिर्वचनीय है। बुद्धि से परे का विषय है। जो भी विषय इस सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में अनिर्वचनीय है, जो मानव की उत्कृष्ट बुद्धि से परे का विषय है, वह समस्त ईश्वरीय ही है। अर्थात् **यह इन्द्रियाँ ईश्वर सत्ता के उस सच्चिदानन्द स्वरूप के परम आनन्द को भौतिक देह में प्रगटीकरण के लिए हैं।** पंच महाभूतों से निर्मित इस मानव काया में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, प्रत्येक एक–एक महाभूत का प्रतिनिधित्व करती हैं। जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि एव आकाश। यह पंच महाभूतों से निर्मित महाब्रह्माण्ड और यह मानव काया इसमें त्वचा द्वारा **स्पर्श,** वायु का गुण है। जीभ द्वारा **स्वाद,** जल का गुण है। नेत्र, **ज्योति** का प्रतिनिधित्व करते हैं। नाद अथवा ध्वनि जो हम कानों से सुनते हैं

वह **आकाश** का प्रतिनिधित्व करती है। नासिका द्वारा **गंध**, पृथ्वी का प्रतिनिधित्व करती है। तो ईश्वर के पांच महाभूतों का सीधा प्रतिनिधित्व यह हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ करती हैं। इन्द्रियों को नकाराना, यह ईश्वर के पाँच महाभूतों का अपमान करने के समान है। अतः ईश्वर के इन पाँचों महाभूतों का पूजन व इनका सम्मान करते हुए हम सच्चिदानन्द ईश्वर जो हमारे भीतर अन्तर्निहित है, उस तक प्रवेश करें। यह बहुत सरलतम और ऐसा मार्ग है जिस पर चलते हुए हम हर क्षण, हर पल ईश्वरीय सुन्दरता एव उत्कृष्टता का आनन्द ले सकते हैं।

जैसा कि मैं पहले भी वर्णन कर चुका हूँ कि **किसी भी कार्य में जब तीनों आनन्द समाहित होते हैं कार्य के प्रथम का, मध्य का और समाप्ति का आनन्द, तो वह निस्संदेह ईश्वरीय कार्य होता है।** साधना में किसी भी साधक को बहुत एकाग्रचित होकर यह मनन करना आवश्यक है, कि साधना में भी तीनों आनन्दों का सम्मिश्रण अति आवश्यक है। **जो मार्ग ईश्वर कृपा से आपके सम्मुख रखा है, यह एक सरस मार्ग है।** यद्यपि इसमें भी इन्द्रिय निग्रह की अति आवश्यकता है, लेकिन एक बार विशिष्ट गुरु कृपा से, इष्ट कृपा से व आत्म कृपा से, यदि कोई इस परम सत्य को प्राप्त कर लें, तो समस्त मायिक शक्तियाँ, जो इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही किसी मानव को ईश्वर के परे या ईश्वर के समीप ले जाती हैं। वह किसी भी साधक के लिए सहायक हो जाती है।

साधारणत लोग समझते हैं ईश्वरीय माया उनको ईश्वर से परे ले जाती है। इस विचार का कोई औचित्य नहीं है। **ईश्वर की माया ईश्वरीय शक्ति है।** वह किसी को ईश्वर से परे क्यों करेगी? **ईश्वर से परे उस समय करती है जब मानव उस माया रूपी पाँच ज्ञानेन्द्रियों को तिस्कृत करता है।** जितनी भी **महाब्रह्माण्ड में ईश्वरीय माया है उसका प्रारम्भ, उसका मध्य व अन्त यह पाँचों ज्ञानेद्रियाँ ही हैं।** यदि हम उस ईश्वरीय माया शक्ति को एवं मन को प्रणाम करते हुए व उसका सम्मान करते हुए आगे बढ़ें तो यही माया शक्ति और ईश्वरीय मन साधक को उस परम सत्ता तक पहुँचाने में परम सहायक हो जाता है।

जितनी भी ईश्वरीय माया है या मायिक शक्तियाँ है, सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी, यदि हम इनकी उत्कृष्ट कार्य प्रणाली का मनन करें, तो हम पायेंगे कि महाब्रह्माण्ड में समस्त ईश्वरीय माया का प्रारम्भ इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से होता है और अन्त भी इन पाँचों ज्ञानेत्रियों में ही होता है। **ईश्वर की महाशक्ति 'माया' का बाह्य प्रगटीकरण इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही होता है। अगर यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ न हो तो कोई ईश्वरीय माया का दिग्दर्शन ही नही कर सकता।** यदि ईश्वरीय मानसिक शक्ति न हो तो भले ही मायिक शक्ति का प्रगटीकरण हो जाये, कोई भी मानव उस मायिक शक्ति का सुख भोग नहीं कर सकता। वास्तविकता यह है कि मानव देह अपने में ईश्वरीय माया के चमत्कार का एक जीता–जागता उदाहरण है जो ईश्वर ने हमको दी है ताकि इस देह और इस देह में विभिन्न इन्द्रियों द्वारा हम ईश्वर का साक्षात्कार कर सकें और उसका अनुभव कर सके।

एक अति विचारणीय तथ्य आपके सम्मुख रख रहा हूँ। **समस्त महाब्रह्माण्ड जो नाम व रूप में दष्टिगोचर होता है वह समस्त ईश्वरीय माया का विस्तार है। समस्त ईश्वरीय माया को मान्यता देता है ईश्वरीय मन।** जिसको अज्ञानवश मानव अपना मन मान लेता है। माया को जब मन की मान्यता प्रदान हो जाती है, तो मानव देह और इसमें उपस्थित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जैसा कि मैं वर्णन कर चुका हूँ पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश, इन पाँच महाभूतों का क्रमश. गंध, रस, स्पर्श, दृष्टि एव नाद के रूप में रसास्वादन करती हैं।

उदाहरण के लिए एक अबोध बालक को एक काँच के टुकड़े का जो महात्म्य है शायद किसी परिपक्व व्यक्ति को हीरे के टुकड़े का उतना महातम नहीं होगा। तो यहाँ महातम हीरे का नहीं है बल्कि हीरे को दी गई मान्यता का है। अर्थात् **संसार में जितने भी मायिक पदार्थ हैं, उनका वास्तविक मूल्य क्या है एवं वह कितना सुख दे सकते हैं, यह निर्भर करता है कि मन उनको कितनी मान्यता देता है?**

यही एक बात उल्लेखनीय है **माया एवं मन ईश्वरीय शक्तियाँ हैं**। जब कोई मानव अज्ञानवश मात्र इन्द्रिय सुख तक है। संसार को सीमित कर लेता है, तो

माया स्वयं में अपमानित सी हो जाती है। जब मायिक पदार्थों को और उनका सुख देने वाली इन्द्रियों को सम्मानित करते हुए हम उस मायापति सच्चिदानन्द ईश्वर तक पहुँचना चाहते हैं, तो माया अति सम्मानित हो जाती है, मन प्रसन्न होता है एवं इन्द्रियाँ अत्याधिक सशक्त एव प्रसन्न हो जातीं हैं।

इस मार्ग द्वारा उस परम स्थिति को पाने में बहुत सुविधा हो जाती है। तो ऐसे महापुरुष माया और प्रभु दोनों को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त मानव संसार में पूजनीय रहते हैं और वास्तव में अपने जीवन का विशिष्टतम् रसास्वादन करते हुए अपने स्वरूप चिंतन में भी व्यस्त रहते हैं। यही वास्तव में जीवन का लक्ष्य है। यदि इस सत्य का अनुसरण किया जाये, तो मानव ईश्वरीय माया एवं मन को पूर्णतया मान्यता देते हुए इन्द्रियों द्वारा भोग्य पदार्थों का सुख लेते हुए अपने वास्तविक सच्चिदानन्द स्वरूप में एक न एक दिन अवश्य प्रवेश कर जाता है और यही है **जीवन–मुक्ति**।

।। जय जय श्री राम। ।

उपासना

आज आपके सम्मुख परम इष्ट प्रेरणा से जो विषय प्रस्तुत कर रहा हूँ इसका नाम है **'उपासना'**। बहुत सुन्दर, सरस, सारगर्भित एव सक्षम विषय है। उपासना क्या है उपास्य एव उपासक कौन है एवं उनके लक्षण क्या है? उपासना का सन्धिविच्छेद किया जाये तो हुआ **उप+आसन** अर्थात समीप बैठना। जैसा कि सन्धिविच्छेद से भावार्थ निकलता है, उससे यह स्पष्ट है कि उपासना सदा द्वैत में ही होती है। पास में बैठने वाला और जिसके पास बैठा जाये, इन दोनों का होना अति आवश्यक है। कोई भी उपासक जिस भी पद्धति से अपने इष्ट का सान्निध्य चाहता है या उसके पास रहना चाहता है उसे कहा है **उपासना पद्धति। उपास्य, उसका 'इष्ट' है और उसकी समीपता के कारण जो प्रतिफल होता है, उसे कहा है उपासना का फल।** जब हम भौतिक जगत में अपने किसी संगी–साथी या सम्बन्धी के पास बैठते हैं, तो वहाँ भी द्वैत होता है। लेकिन वहाँ भौतिक जगत होता है। कुछ आपसी स्वार्थ होते हैं, कुछ मन को रिझाने की बातें होती हैं और कुछ अन्य सांसारिक कार्य होते हैं। कई प्रकार के राग–द्वेष, ईर्ष्या, प्रेम, घृणा इत्यादि मानसिक भाव होते हैं, जिनको लेकर हम किसी व्यक्ति के पास बैठते हैं या कोई हमारे पास बैठता है।

ईश्वरीय उपासना में आयाम बदल जाते हैं। वहाँ ये मानसिक भाव एवं मानसिक आवेश परिवर्तित हो जाते हैं। मानव मन कुछ समय के लिए ईश्वरीय मन में समाहित हो जाता है, समर्पित हो जाता है। मानवीय मन के विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार इत्यादि ईश्वरीय मन में समर्पित होने के बाद अपनी विकृतियों खो देते हैं और यह दिव्य उत्प्रेरक बन जाते हैं। काम, **महाकाम** में परिवर्तित हो जाता है कि, 'हे प्रभु। हे मेरे इष्ट! मुझे इतना **महाकामी** बना दो कि तुम्हारे अतिरिक्त मुझे कोई कामना ही न रहे। मुझे इतना **लोभी** बना दो कि मैं हर पल, हर क्षण, हर श्वास, सोते–जागते, उठते–बैठते तुम्हारा **जाप** करता रहूँ, तुम्हारा नाम भजता रहूँ। हे प्रभु। मुझे तुमसे अत्याधिक **मोह** हो जाये, मैं तुम्हारे बिना न जी सकूँ, न मर सकूँ। इसी प्रकार मुझे इतना अंहकार हो जाये कि मात्र, मैं ही तुम्हारी संतान हूँ। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण ऐश्वर्य एवं भोग पदार्थ सब मेरे लिए हैं। जिस प्रकार तुम्हारे एक नाम असंख्य रूप, एक रूप असंख्य नाम एवं

असंख्य नाम असंख्य रूप है, उसी प्रकार मेरे भी एक नाम असंख्य रूप, एक रूप असंख्य नाम एवं असंख्य नाम असंख्य रूप हैं। समस्त भूमण्डल, आकाश मण्डल, जल मण्डल जितनी भी तुम्हारी सम्पूर्ण संरचना है, समस्त भोग्य पदार्थ, समस्त वस्तुएँ मेरे लिए हों। इतना अंहकारी बना दो मुझे। **महाक्रोधी** बना दो, मेरे और तुम्हारे बीच कुछ भी न आ सके। जो आये उसे मैं हटा दूँ क्रोधपूर्वक। **जब मानव मन ईश्वरीय मन में समाहित हो जाता है, तो उसके विकार समाप्त हो जाते हैं और वह दिव्य उत्प्रेरक बन जाते हैं। मानव बुद्धि दिव्य हो जाती है।**

जैसा कि मैं कई बार उल्लेख कर चुका हूँ, यदि हम किसी शांत स्थान पर एकाग्रचित्त बैठकर विचार करें, कि जब से हमने होश संभाला है, मात्र कुछ ही घटनायें हमारे मानस पटल पर अंकित होती हैं। उनमें से कुछ घटनाओं पर हम सविस्तार चिंतन करें, तो हम पायेंगे कि इन सभी घटनाओं के घटने में हमारी मानविक बुद्धि का कुछ भी योगदान नहीं होता। घटनायें घटीं और घटनायें घटती है। उसी के अनुसार उनकी परिस्थितियाँ स्वयं बन जाती हैं और हमारी बुद्धि उसी के अनुसार कार्य करने लगती है। अमुक–अमुक समय पर, अमुक–अमुक स्थान पर और अमुक–अमुक माता–पिता से हमारा जन्म क्यो होता है? अमुक स्थान पर अमुक पुरुष अथवा स्त्री से हमारा विवाह क्यों होता है? अमुक–अमुक प्रकार की हमारी संतान क्यों होती है? उनकी विचित्र प्रतिभायें क्यों होती है? हमारा एक विशिष्ट व्यवसाय क्यों होता है और इसी प्रकार हमारी मृत्यु कब, कहाँ और कैसे होनी है? ये सब विशिष्ट घटनायें हमारे किसी के हाथ में नहीं है। यदि सत्य पूछिये तो हमारे हाथ में, हमारे अधिकार में हमारा अगला आने वाला श्वास भी तो नहीं है। यदि यही सत्य है तो उस श्वास के चलते हमारे हृदय में, हमारे मस्तिष्क में आने वाला कोई विचार या कोई योजना एवं उस श्वास में होने वाला कर्म, हमारे द्वारा कैसे प्रतिपादित या सम्पादित हो सकता है? अर्थात् जो कुछ भी इस महाब्रह्माण्ड में, विशेषतया हमारे जीवन काल में हमारे द्वारा हो रहा है, सब ईश्वर इच्छा से ही हो रहा है। लेकिन दुर्भाग्यवश व अज्ञानवश हम यह मान लेते हैं कि, इसे मैं कर रहा हूँ, यह मेरी बुद्धि की सोच है।

जितना भी हम अपने अतीत की घटनाओं पर गहराई से चिंतन एवं मनन करेंगे, तो

हमें ज्ञात होगा कि कोई भी घटना हमारी बुद्धि के योग से नहीं हुई। यहाँ एक बड़ी विचित्र बात जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ, वह यह कि जो कुछ भी हम अपने बौद्धिक चातुर्य से करते हैं, वह कुछ समय बाद हमारे मानस पटल से पूर्णतया हट जाता है। यह बड़ा अद्भुत ईश्वरीय नियम है। यदि जीवन, मरण, हमारे जीवन की विशिष्ट घटनायें एवं हमारा आगे आने वाला समय हमारे हाथ में नहीं है, तो प्रश्न यह उठता है कि प्रभु ने हमें बुद्धि क्यों दी होगी ? बड़ी उत्कृष्ट मानव बुद्धि जो कि संसार के अन्य जीव–जन्तुओं में, किसी में इतनी नहीं है। मैं कई बार वर्णन कर चुका हूँ कि जिस प्रकार कोई कलाकार किसी कलाकृति, लेख, कविता या पेटिंग बनाने के बाद यह आकांक्षा रखता है, कि उसका कोई प्रेमी उसकी प्रशंसा करे तो शायद उस ईश्वरीय हृदय में भी यह विचार, यह इच्छा उठी होगी कि उसकी इस महान कला कृति, यह संसार महानाट्य शाला, जो मात्र ईश्वरीय शक्ति से ही संचालित होती है, इस समस्त कृति की प्रशंसा कर सके, इसकी सराहना कर सके। शायद, इसलिए मानव को प्रभु ने बुद्धि दी होगी।

मानव अपनी बुद्धि द्वारा यह विचार कर सकता है कि इन पाँचों महाभूतों पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, व अग्नि इन सबका कोई धर्म नहीं है। पाँचों कालातीत, देशातीत, कर्मातीत, कर्त्तव्यातीत एव धर्मातीत हैं। इन पाँच महाभूतों से निर्मित यह मानव काया स्वयं में धर्मों, कर्मों और कर्त्तव्यों में क्यों उलझ जाती है ? जबकि इसको निर्माण करने वाले पंचमहाभूत, परम पिता परमात्मा की शक्ति से ही संचालित होते हैं। तो क्या इसमें अंहयुक्त मानव बुद्धि का तो कहीं कोई सूक्ष्म योगदान नहीं है? मैं यहाँ किसी धर्म के विरुद्ध नहीं बोल रहा हूँ। धर्म पवित्र नदियाँ हैं और वही नदियाँ, वह गंगा, वह जमुना, जब सागर में मिलती हैं, तो अपना आपा खो देती हैं, लीन हो जाती हैं सागर में। उनका अपना नाम व अपना रूप सागर में विलीन हो जाता है। मात्र, सागर बन जाती हैं। इसी प्रकार **जब इन पंच महाभूतों से निर्मित मानव काया अपने स्त्रोत उस ईश्वर से उपासना द्वारा मिल जाती है तो मानव भी अपने नाम–रूप से, धर्म–कर्म से और कर्तव्यों से ऊपर उठ जाता है। यही वास्तविक स्थिति एक उपासक की होती है जहाँ आनन्द ही आनन्द होता है और आनन्द के अतिरिक्त कुछ**

नहीं होता।

बुद्धि के योगदान की बात चल रही है। जैसे ही मानव शिशु अपना होश संभालता है, माता–पिता के अज्ञानवश, उसकी स्वभाविक प्रतिभाओं को अनदेखा कर दिया जाता है और उस पर कई प्रकार के बोझ लाद दिये जाते हैं तथाकथित ज्ञान के, विज्ञान के और शिक्षा के नाम पर, जिनसे वह बंध जाता है, कर्मों से बंध जाता है। आजीवन उसका बोझा ढोता है। जब बुद्धि विवेकमयी होती है और मानव को सत्य की झलक आती है, तो सब बंधनों से मुक्त होकर वह ईश्वरीय हो जाती है। धर्मों से, कर्मों से, काल से, देश से व कर्त्तव्यों से ऊपर उठकर वह अपने उस स्त्रोत, अपने इष्ट से सम्पर्क साध लेती है। इसे कहा है **दिव्य बुद्धि**।

वास्तविक कर्म को पुरुषार्थ कहा है कि, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मुझे जाना कहाँ है, मैं बार–बार इस संसार मे जन्म क्यों लेता हूँ? वही कर्म है, जिसके लिए ईश्वर हमको पृथ्वी पर लेकर आये हैं और ईश्वर ही हमसे स्वयं करवाते हैं। स्वतः होते हैं, आनन्दमय होते हैं, आनन्द में शुरू होते हैं और आनन्द में ही समाप्त होते हैं। वह महा लीलाधारी परमात्मा, स्वयं ही ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश बनकर इस महासृष्टि का निर्माण, पालन एवं सहार करते हैं, मात्र लीला के लिए। इतनी असंख्य जीव–जन्तुओं की और विभिन्न कृत्यों की रचना होती है और सबसे वह स्वयं ही कुछ न कुछ करवा लेता है मात्र खेल के लिए। लेकिन मानव अपनी बुद्धि के अहम्‌वश यह समझने लगता है कि, मैं कर रहा हूँ।

ईश्वर ने मात्र खेल के लिए और लीला के लिए इन कोटि–कोटि महाब्रह्माण्डों का निर्माण किया है। वह स्वयं ही इनका पालन कर रहे हैं। आप कभी सागर में तैरने वाली असंख्य प्रकार की मछलियों पर और अन्य जीव–जन्तुओं पर विचार करिये। समुद्रों में वनों में व आकाश में विचरने वाले असंख्य जीव–जन्तुओं पर विचार करिये, तो क्या आप उन्हें कहेंगे कि वे समय व्यर्थ कर रहे हैं। **वे कालातीत महाशक्ति महाकालेश्वर जो काल का ईश्वर है, यह समस्त उसकी लीला का, उसके खेल का व उसके आनन्द का प्रगटीकरण है।** समस्त ब्रह्माण्ड और समस्त लीलाओं की प्रत्येक इकाई परिपूर्ण है, परिपूर्णानन्द है। जो जीव–जन्तु जहाँ भी हैं, वे आनन्द में हैं।

उसकी रचना, पालन और संहार आनन्द में होता है। मात्र, मानव अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करते हुए उस आनन्द को सुखों–दुखों में परिवर्तित कर देता है, तनावित हो जाता है, भयभीत हो जाता है और इस प्रकार कष्टमय जीवन बिताता है, आनन्द खो जाता है। जब स्वतः भाव से सब प्रकार से प्रबन्ध होते हैं एवं स्वतः भाव से परिस्थितियाँ बनती हैं, तो किसी भी कर्म में उसी समय अग्रसर होना चाहिए। जहाँ हम स्वयं योजना बनाते हैं तो वह मानवीय कर्म हो जाते हैं। उन्हें पूर्ण करने के लिए हमें जोखिम उठाने पड़ते है, तनाव मोल लेना पड़ता है। यह बहुत बड़ा अन्तर है मानवीय कर्मों में और ईश्वरीय कर्मों में। **ईश्वरीय कर्म स्वछन्द होते हैं और बंधन का हेतु कभी नहीं बनते। बल्कि मानव को मोक्ष दिलाने का कारण बन जाते हैं।** मानव के मानस पटल पर इन कर्मों का कोई ब्यौरा ही नहीं होता, मात्र यह अनुभूति होती है, कि मेरे द्वारा कुछ हो रहा है, जिसका कर्त्ता मैं स्वयं नहीं हूँ। उस मानसिक स्थिति को कहा है **कर्मयोग,** और ऐसे व्यक्ति को कहा है **कर्मयोगी**। वह स्वयं उनका निमित्त तक नहीं बनता। मात्र, कर्म होता सा अनुभव होता है। न वह उनके फल से बंधता है। न वह उनका कारण बनता है। ऐसे कर्म स्वतः भाव से और आनन्द में होते हैं। आनन्द ही उनका फल होता है और ऐसे महामानव आनन्द में ही जीवन बिताते हैं। उनके जीवन का हर श्वास, हर पल, हर पहलू, आनन्दमय होता है।

कर्म वही किया जाये जो स्वतः भाव से हो और जो स्वयं ईश्वर द्वारा ही सम्पादित हो। उसकी पहचान मैं आपके सामने रख चुका हूँ। **वे कर्म अपने में उपासना हो जाती है। उपासक का सबसे बड़ा कर्म होता है अपने इष्ट के पास रहना।** कर्मक्षेत्र क्या हो, तुम से तुम तक और ज्ञान क्या हो कि, तुम ही मेरे सब कुछ हो। उपासकों की बहुत बड़ी लालसायें, इच्छायें, आकांक्षायें व महात्त्वाकांक्षायें नहीं होतीं। कर्म द्वारा और जीवन की अन्य जितनी भी प्रक्रियायें हैं, सबके द्वारा उपासक मात्र अपने इष्ट का सामीप्य चाहता है, उसके पास रहना चाहता है। उपासकों के लिए शास्त्र ने चार प्रकार के मोक्ष वर्णित किये हैं जिनका वर्णन भी मैं कर चुका हूँ। **सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य और सारूप्य।** वह अपने इष्ट के पास उसके सगे–सम्बन्धी बन कर रहते है, भाव से उसका स्वरूप धारण कर लेते हैं, उसी के लोक में रहते हैं या

उसकी देह से कुछ भी बनकर जुड़ जाते हैं। पाँचों मोक्षों में से चार पर उपासकों का अधिकार दिया है। पाँचवा कैवल्य मोक्ष है जिसमें ज्योति में ज्योति समा जाती है।

जैसा कि वर्णन चल रहा है उपासना के बारे में कि अपने इष्ट के समीप बैठना। अब यहाँ पर आज के बुद्धिजीवी एक बहुत सार्थक प्रश्न पूछते हैं कि इष्ट क्या है? इष्ट का स्वरूप क्या है और उसके समीप बैठने का अर्थ क्या है? तो बड़ा औचित्य पूर्ण प्रश्न होता है। ईश्वर की मान्यता के बाद ईश्वर के बारे में जानने की प्रबल इच्छा जब मानव मन में उत्पन्न हो जाती है तो प्रथम, तो वह अपनी बुद्धि की सीमाओं तक पहुंचता है, विचार करता है, चिंतन करता है और जब बुद्धि निरुत्तर हो जाती है, उसके बाद वह समाधि द्वारा अनुभूति के जगत में प्रवेश करता है। जब इसके पश्चात् भी सत्य की झलक नहीं मिलती तो अन्ततः इष्ट का साक्षात्कार करने की प्रबल इच्छा, जो एक वेदना सी बन जाती है वहाँ से शुरू होती है **उपासना**। यह जानना बहुत आवश्यक है। **उपासक, ईश्वर को मान्यता देने के पश्चात्, ईश्वर को किसी भी नाम और रूप में मान लेता है।** जैसा कि हमारे मनीषियों ने बहुत स्वतन्त्र मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया है, कि ईश्वर को, क्योंकि वह सर्वत्र विराजमान है किसी भी नाम रूप में, अपने संस्कारोंवश, अपनी इच्छावश और अपनी प्रसन्नता के वश मान लिया जाये, क्योंकि ईश्वर को जानने कि लिए इससे सरलतम् और गहनतम् कोई और मार्ग नहीं हो सकता। यद्यपि वह महाशक्ति स्वयं में निराकार है लेकिन निराकार के पास नहीं बैठा जा सकता। **निराकार की उपासना के लिए स्वयं भी निराकार होना परमावश्यक है।** मैं निराकार उपासना का प्रतिरोध नहीं कर रहा हूँ। उसको नकार नहीं रहा हूँ। **यदि कोई स्वयं निराकार नहीं हो सकता, तो वह निराकार की उपासना नहीं कर सकता, यह नितान्त सत्य है।**

उपासना साकार की होती है और साकार में ईश्वर को किसी नाम–रूप में मान्यता देना आवश्यक है। मनीषियों ने इसे खुला मार्ग रखा है। यदि आपको नभ–मण्डल, तारागण, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि बहुत अच्छे लगते हैं और उनके साथ मन टिकता है, तो सूर्य देव की या चन्द्र देव की उपासना कर लीजिये, वह ही आपके इष्ट है। यदि वनस्पतियाँ व वृक्ष अच्छे लगते हैं, तो पीपल नारायण आदि को

मान लीजिये। यदि पत्थर अच्छे लगते है, तो शिवलिंग मान लीजिये। यदि सरितायें या धारायें अच्छी लगती हैं, तो गंगा मैया, यमुना मैया या किसी अन्य नदिया को इष्ट मान लीजिये। कुछ लोग कहते हैं यह बहुत संकीर्ण मार्ग है, ऐसा नहीं है। आप बौद्धिक रूप से विचार करेंगे तो शायद संकीर्ण लगे, लेकिन ऐसा नहीं है।

जब उपासना दृढ़ हो जाती है, जब अपने इष्ट में दृढ़ विश्वास, निष्ठा और श्रद्धा हो जाती है, इष्ट की कृपा हो जाती है, तो उपासना दृढ़ता के साथ परिपक्व हो जाती है। उस स्थिति में क्या होता है वह मैं आपके सन्मुख कुछ शब्दों में अवश्य रखूँगा। उसके बाद आपको अपना इष्ट उस नाम–रूप में ही नहीं लगता, बल्कि **पूरे महाब्रह्माण्ड में जहाँ–जहाँ ईश्वर की मान्यता है, जिस भी नाम–रूप में है, उन असंख्य नाम असंख्य रूपों में आपको अपना इष्ट ही एक नाम असंख्य रूपों में, एक रूप असंख्य नामों में और असंख्य नाम असंख्य रूपों में दृष्टिगोचर होने लगता है।** यदि ऐसा न हो तो उपासना परिपक्व नहीं हुई, दृढ़ हो सकती है। बड़े–बड़े दृढ़ उपासक हुए हैं आजकल, लेकिन परिपक्व उपासक कोई कोई होता है।

दृढ़ उपासना जब अहम् रहित हो जाती है तो परिपक्व होने लगती है। उपासक, उपास्य एव उपासना तीनों मिल जाते हैं और मिल कर क्या बनता है, यह अनिर्वचनीय पद है, अद्वैत में द्वैत और द्वैत में अद्वैत हो जाता है। प्रारम्भ, मध्य और अन्त सब आनन्दमय होता है। यह है उपासना की पराकाष्ठा, यह है उपासना का अन्तिम लक्ष्य।

तो उस नाम, रूप में जब ईश्वर की मान्यता हो जाती है, उसको कहा है '**इष्ट**'। उसके साथ जब भक्ति, प्रेम, मोह के साथ उठना–बैठना तथा पूजा–पाठ शुरू होती है तो अपने इष्ट देव के साथ घनिष्ठता हो जाती है। यह घनिष्ठता सम्बन्धों में बदल जाती है। जिन्होंने उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखा है, वे भी भौतिक सम्बन्धों की तरह अपने इष्ट से सम्बन्ध बना लेते हैं। प्रथम, मान्यता हुई, घनिष्ठता के बाद सम्बन्ध बना और सम्बन्ध के बाद घनष्ठिता परिपक्व होती है। **सम्बन्धों से पहले घनिष्ठता होती है, फिर सम्बन्ध बनते हैं और सम्बन्धों के बाद घनिष्ठता परिपक्व होती है।** लेकिन

उस समय तक अपना अधिकार अपने इष्ट पर नहीं होता। उस अधिकार को जमाने के लिए इष्ट की विशेष कृपा का होना परमावश्यक है, जो कि उपासक के हाथ में नहीं है। जितने भी यह यज्ञ, हवन, जप, तप, दान, पुण्य, पूजापाठ, विभिन्न प्रकार की पद्धतियाँ हैं, ये सब मात्र अपने इष्ट पर अधिकार के लिए हैं। लेकिन अधिकार तब होता है, जब इष्ट की विशिष्ट कृपा होती है। इस अधिकार के लिए इन प्रक्रियाओं का कोई महातम नहीं है। अधिकार कब होगा, कैसे होगा और उसके बाद क्या होगा? यह सब ईश्वर के हाथ में है, उपासक के हाथ में नहीं है। उन प्रक्रियाओं के पीछे उसका भाव क्या है? उन समस्त दैवीय प्रकरणों के पीछे उसकी वृत्ति क्या है? शायद, यह सब कुछ उस पर ही निर्भर करता है। इसलिए जब इष्ट की उपासना करनी हो, वहाँ भी अपना अहम् त्यागना अति आवश्यक है, कि हे प्रभु। तुम्हारी अति कृपा से मैं तेरे चरणों तक पहुंचा हूँ। हे महा कृपालु! तुम्हारी कृपा से ही मैं तुम्हारे पास बैठ सकता हूँ। तुम्हारी असीम कृपा से ही मैं तुम्हें याद कर सकता हूँ, अन्यथा मैं तो तुम्हें याद भी नहीं कर सकता। **जब उपासक की हृदय से आर्त्तनाद होती है, जब वह बुद्धि व स्वयं को भूल जाता है, अपनी समस्त भौतिक उपलब्धियों को और पद्धतियों को भूल जाता है, जब उसकी अपनी हैसियत समाप्त हो जाती है, उस समय उस आर्त्तनाद का अवश्य प्रभाव पड़ता है।** कि, 'हे सच्चिदानन्द ! हे मेरे स्वामी, त्राहिमाम् त्राहिमाम्। मैं तुम्हारी कृपा से तुम्हारी शरण में हूँ। जन्म–जन्मान्तरों से भटकता–भटकता मैं तेरे दर पर ढह गया हूँ, गिर गया हूँ, महाप्रभु मेरी रक्षा करो। मुझे शरण दो।

सनमुख होइ जीव मोहि जबही, जन्म कोटि अध नासहिं तबही।

तो वह महाप्रभु, वह सच्चिदानन्द उसी समय जीव को उसके करोड़ों जन्मों में किये गये पापों से मुक्त कर देते हैं। वह मुक्त आत्मा हो जाता है और उसके बाद आपसी मिलना–जुलना शुरू होता है उपास्य का और उपासक का।

पड़ा रहने दो अपने दर पर मुझको क्यों उठाते हो,
मेरी किस्मत सँवरती है तुम्हारा क्या बिगड़ता है?

मैं भूला–भटका भाग रहा था, दौड़ रहा था। दौड़ता–दौड़ता पैदा होता था और दौड़ते–दौड़ते जीवन समाप्त हो जाता था। फिर दौड़ने लगता था। अब मानो मेरी दौड़

अन्तिम विश्राम तक मुझे लेकर आयी है। प्रभु कृपा से **जब समस्त उपासना प्रकरण अहम् रहित हो जाता है, उस समय उपासना परिपक्व हो जाती है। शायद तब ही ईश्वर भी अपने उपासक को मान्यता देने लगते हैं और उस समय शुरू होता है मानवाधिकार। मानव, मानव ही रहता है, लेकिन उसको ईश्वरीय अधिकार मिल जाते हैं।** अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की झलक मिल जाती है और अपने उस प्रबल अन्तिम आनन्द स्वरूप की डुबकी लग जाती हैं, जो कि अन्तिम लक्ष्य है। दुःख–सुख, कामनायें और सब कुछ वहाँ पर नतमस्तक हो जाता है। इतना प्रबल आनन्द स्वरूप है इसका, स्वयं का, सर्वत्र उसको अपना इष्ट ही इष्ट दिग्दर्शित होता है। बस, समस्त महाब्रह्माण्ड में या तो वह स्वयं को देखता है या अपने यार को देखता है, तीसरा कोई नहीं होता। **बड़ा प्रबल अद्वैत में द्वैत है और द्वैत में अद्वैत।** अब प्रकरण शुरू होता है साधना का।

पुरुषार्थ से बात चली थी। पुरुषार्थ के दो आयाम हैं, दो विधायें है–उपासना एवं साधना। जितने भी सुख–सुविधा के साधन हैं, उन साधनों का अन्त मानव देह की इन्द्रियों तक ही है। साधन नश्वर है और इन्द्रियों की क्षमता की भी एक सीमा है। आप मुझ से पूर्णतया सहमत होंगे। सीमा से अधिक इन्द्रियां सुख भी नहीं ले सकती, न ही सुख दे सकती है। इन्द्रियों का अपना स्वरूप क्या है? इन्द्रियों की क्षमता क्या है? इसको मानव होने के नाते जानना अति आवश्यक है। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, देह का निर्माण करने वाले पंच महाभूत पृथ्वी, जल, वायु, आकाश एवं अग्नि का प्रतिनिधित्व करती है। यह सुख देती है और जो वस्तु सुख देती है, वह दुख का कारण भी बनती है, ऐसा प्रकृति का नियम है। कहाँ से आता है इनमें सुख? अति उत्कृष्ट बुद्धि द्वारा यदि आप विचार करें तो आप पायेंगे कि यदि हमारे हृदय की स्थिति विक्षिप्त हो, भयभीत हो और आनन्दरहित हो, तो भले ही हम कितने सुख–साधनों से युक्त हों, भले ही हमारी इन्द्रियों में उनको भोगने की क्षमता से परिपूरित हों, लेकिन क्या हम उन भोगों को भोग सकते हैं। उदाहरण के लिए आप स्वस्थ हैं और खाने के लिए विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन हों, यदि आप मन से दुखी हैं, भयभीत हैं तो क्या आप उन स्वादिष्ट व्यजनों का स्वाद ले सकते है? कदापि नहीं ! क्योंकि आपके भीतर का आनन्द समाप्त हो चुका है।

जब आनन्दमय स्थिति नहीं होती तो भले ही लाखों सुख–साधन, भले ही आपकी समस्त इन्द्रियाँ कितनी ही स्वस्थ क्यों न हों, आपको सुख नहीं दे सकतीं अर्थात् इन्द्रियाँ हमारे आनन्द स्वरूप से सुख लेती हैं।

इन्द्रियों की अपनी कोई हैसियत नहीं है। इनको साधन चाहिए, विषय चाहिए व भोग्य पदार्थ चाहिए। इनका सम्बन्ध हमारे आनन्द स्वरूप से होता है, मात्र उसी समय यह हमको सुख दे सकती हैं। लेकिन फिर भी इनकी एक क्षमता है व एक सीमा है। उस सीमा से अधिक यह हमको सुख नहीं दे सकतीं। यदि मानव बुद्धि इस श्रृंखला पर विचार करती है, कि पहले तो सुख–साधन चाहिए, सुख–साधनों के साथ स्वस्थ इन्द्रियाँ चाहिए और उनके साथ मानसिक प्रसन्नता और आनन्द की स्थिति चाहिए, तभी जाकर यह इन्द्रियाँ हमें सुख देती हैं। अन्ततः यह सुख इन्होंने हमारे भीतर के आनन्द से ही लिया। हमारे मनीषियों ने अति विचार किया कि यदि उस भीतरी आनन्द तक पहुँचा जाये तो इन्द्रियों को और सुख–साधनों की आवश्यकता ही क्या है? कितना विशिष्ट विचार था कितना उत्तम चिंतन एव मनन था। यह सत्य भी है।

यदि देह में इन्द्रियाँ न होती, तो शायद मानव को अपने भीतर, अपने अन्तराल में छिपे आनन्द की अनुभूति न होती। इन्द्रियों को मत नकारिये। देह से देहातीत होना है, इन्द्रियों से इन्द्रियातीत होना है। इसलिए हम देह को नकार नहीं सकते। सम्पूर्ण देह आनन्दमय हो जाये, इन्द्रियाँ आनन्दमय हो जाएं, वही सरस साधना है कि इन्द्रियों की क्षमता समाप्त किए बिना हम अपने आनन्द स्वरूप में प्रवेश कर सकते हैं, जो कि बहुत कठिन प्रकरण है, लेकिन बहुत सरस है, सत्य है, ऐसा हो सकता है, ऐसा हुआ है। क्या हम जंगलों में जाकर तप कर सकते है? किसके पास इतना समय है आज के जगत में ? हमको गृहस्थ में ही रहकर तप करना है। **समस्त इन्द्रियों को भोगना है, आनन्दमय भोग।** यदि देह की क्षमता के साथ इनकी क्षमता समाप्त भी हो जाए, तो भी सम्पूर्ण देह और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ आनन्दमय ही रहती है, दुखमय नहीं।

ऐसे महापुरुष वृद्धावस्था में भी पूजनीय होते हैं। आकर्षक होते हैं। जबकि भौतिक जगत में चाहे कोई कितना भी बलशाली क्यों न हो, वृद्धावस्था में वह अपना सारा तेज खो देता है। आध्यात्मिक जगत में साधना का अपना स्थान है। उस साधना से इन्द्रियों के

द्वारा हम अपने आनन्द स्वरूप में पहुँचते हैं। हमको संसार में रहना है, हमें देह को, अपनी इन्द्रियों को तथा सुख–सुविधाओं को नकारना नहीं है। इनके द्वारा हमको अपने परमानन्द स्वरूप की झलक लेनी है। मानव देह अपने में इतनी उत्कृष्ट, इतनी विचित्र और इतनी चमत्कारिक है, कि इसको नकारा नहीं जा सकता। उस ईश्वर का चमत्कार तो देखिए कि एक जीभ जो विभिन प्रकार के स्वाद लेती है और उसके साथ ही नासिका जो मात्र गंध का अनुभव करती है, स्वाद अनुभव नहीं कर सकती। कर्ण नाद का, ध्वनि का अनुभव करते है, स्वाद और गंध का अनुभव नहीं कर सकते। नेत्र मात्र देख सकते हैं, स्वाद नहीं ले सकते। त्वचा मात्र स्पर्श कर सकती है। कितना विचित्र समागम है? कितना अदभुत चमत्कारिक प्रगटीकरण है ईश्वरीय सुन्दरता का?

इन्द्रिय निग्रह के बारे में मैं अपना विचार आपके सम्मुख रखूँगा कि मान लीजिए एक कार सड़क पर चल रही है किसी विशेष गति से। उसकी गति को कम या अधिक, कुछ परिस्थितियों और सड़क की स्थिति के अनुसार किया जा सकता है। परन्तु यदि वह कार एक अलग स्थान पर खड़ी हुई है, तो उसकी गति को नियंत्रित करने का कोई प्रश्न ही नहीं होता, कोई औचित्य ही नहीं है। आप मेरी बात से सहमत होंगे। यदि हमने इन्द्रियों को पूर्णतया नकार दिया या उन्हें अपने भोग्य पदार्थों से वंचित कर दिया, तो क्या यह नियंत्रण है? मैं तो इसे इन्द्रियों के साथ क्रूर व्यवहार कहूँगा। ईश्वर की उन सुन्दरतम रचनाओं की हम प्रशंसा करें और इनके द्वारा उस अन्तिम आनन्द की अनुभूति करें। देह से देहातीत होना है हमें। वही परमानन्द की स्थिति है।

साधना एक कठिन लेकिन अपने में एक अलग आयाम है। जबकि उपासना में ऐसी कोई विशेष साधना की आवश्यकता नहीं होती। इसमें तो उस ईश्वर की मान्यता, नाम–रूप में मान्यता व उसके साथ सम्बन्ध बना कर उस पर किसी भी प्रकार से अधिकार हो जाए, वह ही चेष्टा होती है। **यह पुरुषार्थ का दूसरा आयाम है। जब पुरुषार्थ के इन दोनों आयामों साधना एवं उपासना में से किसी भी प्रकार से या दोनों प्रकार से कोई जिज्ञासु मानव अपने उस परमानन्द की अनुभूति कर लेता है साकार अथवा निराकार में। तो वही जीवन का**

लक्ष्य है। वहाँ जीवन समाप्त नहीं होता। वहाँ जीवन कभी समाप्त नहीं होता, लेकिन वह आनन्दमय हो जाता है। सुख सुविधा के पदार्थों के लिए दौड़ समाप्त हो जाती है। एक ऐसी अधिकार की स्थिति आ जाती है कि समस्त सुख–सुविधाओं के पदार्थ ऐसे उपासक के पास स्वयं चल कर आते हैं। कितनी विशिष्ट सशक्त स्थिति होती है। तो हमारा लक्ष्य भौतिक शक्तियों को अर्जित करना नहीं है, बल्कि अपने उस परमानन्द स्वरूप की अनुभूति करना है। केवल, मानव को ही उस ईश्वरीय सत्ता ने यह परमोत्कृष्ट बुद्धि दी है, जो कि अन्य जीव–जन्तुओं को नहीं दी। इसका एक ही लक्ष्य है कि वह इसकी शक्ति द्वारा ईश्वर के चमत्कारों की, उसकी संरचना की उसके पालन की व उसके संहार की गतिविधियों की प्रशंसा करे और जो भी ईश्वर इसके द्वारा करवाए उसकी ईश्वर और मात्र, ईश्वर के चरणों में समर्पित करता जाए।

।। जय जय श्री राम ।।

मल, विक्षेप एवं आवरण

इष्ट प्रेरणा एवं कृपा से आज आपके सम्मुख बहुत विचारणीय विषय प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसका नाम है–**मल, विक्षेप एवं आवरण।**

मल, विक्षेप एव आवरण यह तीनों आयाम जीव के सच्चिदानंद स्वरूप को आच्छादित किए हुए हैं। **जहाँ मलिनता होती है, वहाँ मानसिक विक्षेप अवश्य होता है और जहाँ मानसिक विक्षिप्तता होती है, वहाँ जीव का सच्चिदानंद, ईश्वरीय स्वरूप आच्छादित हो जाता है।** सच पूछिये, तो अलग सा हो जाता है। जन्मों–जन्मातरों से किस प्रकार जीव अपने स्वरूप से हटा सा हुआ अपने उस आनन्द स्वरूप की खोज में भटकते–भटकते जन्म दर जन्म बिताते–बिताते लम्बी यात्रायें करता है और अन्ततः वहीं का वहीं रह जाता है। कभी कुछ, कभी कुछ न जाने क्या–क्या बनने की व पाने की लालसायें एवं इच्छाएँ जीवन पर्यन्त समाप्त नहीं होती। जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक जीव न जाने किन–किन इच्छाओं से घिरा हुआ उनकी पूर्ति के लिए क्या–क्या नहीं करता? समय बीत जाता है। एक जन्म समाप्त हो जाता है। कुछ इसकी आसक्तियाँ एव इच्छाएँ अवश्य अधूरी रह जाती हैं, जिनको तथाकथित पूर्ण करने के लिए वही जीवात्मा पुनः देह धारण करती है। फिर वही सिलसिला चलता रहता है और अन्ततः मृत्यु के समय फिर कुछ न कुछ अधूरा रह जाता है, क्योंकि **जब तक जीव उस परिपूर्णानन्द परमात्मा रूपी सागर में अपनी नन्हें से गिलास रूपी जीव बुद्धि को समाहित नहीं करता, तब तक इसको असीम की संतुष्टि नहीं मिलती।** यह असंख्य जन्मों तक असंतुष्टि में ही जन्म लेता है और उसी में ही जीवन बिताते हुए अन्ततः मृत्यु की गोद में सो जाता है। तो इस मलिनता का कारण क्या है? जहाँ मल है वहाँ विक्षेप क्यों होता है? और उस विक्षिप्तता की स्थिति में जीव आवृत क्यों होता है?

माँ के गर्भ में लगभग नौ मास बिताने के बाद मानव शिशु उत्पन्न होता है। जैसा कि मैं कई बार इंगित कर चुका हूँ कि गर्भ में तीसरे महीने में मानव की बुद्धि को उत्पन्न करने वाले प्रकरण मस्तिष्क का निर्माण प्रारम्भ होता है। तो इससे स्पष्ट है कि मानव मस्तिष्क के निर्माण से पहले भी कोई ऐसी दिव्य बुद्धि कार्य कर रही थी, कोई ऐसा दिव्य

मन कार्य कर रहा था, जिसने एक विशेष मानव की अमुक–अमुक समय पर, अमुक–अमुक माता–पिता के अंश से, विशिष्ट स्थान पर, विशिष्ट परिस्थितियों में और विशिष्ट समय में नींव रखी होगी। अवश्य वह कोई दिव्य बुद्धि अथवा दिव्य मन रहा होगा, क्योंकि उस समय तो मानव बुद्धि उत्पन्न करने वाला प्रकरण मस्तिष्क बनना ही शुरू नहीं हुआ था। यह बात वैज्ञानिक तौर से स्पष्ट है। उसके पश्चात् जब मानव शिशु उत्पन्न होता है, वह इतना अबोध होता है कि अपने माता–पिता तक को नहीं पहचानता। ऐसे समय में भी उसकी हर प्रकार से देखभाल होती है।

मलिनता का पदार्पण कब होता है? जब मानव बुद्धि तथाकथित रूप से विकसित हो जाती है और उसके विकास के साथ इसमें एक अहम् की जागृति हो जाती है कि, मानव सृष्टि को चलाने वाला मैं ही हूँ। मैंने मानव देह धारण की है और मैं ही अपने भाग्य का निर्माता हूँ, इत्यादि–इत्यादि। कर्मों, कर्त्तव्यों का बोझा यह अपने स्वयं के ऊपर, अपने अहम् के कारण ले लेता है और यह भूल जाता है कि वह कोटि–कोटि ब्रह्माण्डनायक जो करोड़ों ब्रह्माण्डों का निर्माण, पालन एवं संहारकर्ता है, यहाँ की समस्त शक्तियों एवं परिवर्तन का अधिकार मात्र उस ईश्वर सत्ता को ही है। यदि विचारपूर्वक देखा जाए, जैसा कि मैं कई बार कह भी चुका हूँ कि मानव बुद्धि मानव को कितना छोटा बना देती है, कितना सूक्ष्म कर देती है कि जिसकी परिकल्पना भी मानव बुद्धि से परे हैं। ऐसे में उस तुच्छता को लिए हुए, यह अपना जीवन प्रारम्भ करता है कि, 'मुझे ही सब कुछ करना है।' यह भूल जाता है कि, 'मैं इस संसार में आया नहीं हूँ लाया गया हूँ। और जो कुछ करने पर मैं विचार कर रहा हूँ, यह मुझ से पहले भी यहाँ पर बहुत सुचारु रूप से हो रहा था और यदि मैं नहीं रहूँगा तो भी सारा कार्य चलता रहेगा।' अहम्वश अपनी बुद्धि को ईश्वरीय बुद्धि से पृथक् मानते ही मलिनता का प्रारम्भ हो जाता है। जब इसकी मानव बुद्धि एक सूक्ष्म अहम् के कारण उस दिव्य बुद्धि से हट जाती है और जब यह समस्त ब्रह्माण्ड का स्वयंभू ब्रह्मा, विष्णु और महेश बन जाता है, तो समझिये उसी समय इसकी बुद्धि मलिन हुई और मलिन बुद्धि के द्वारा जितने भी यह निर्णय लेता है, जितने भी कर्म करने का प्रयल करता है वे समस्त इसको मलिनता की ओर ले जाते हैं और इसके हृदय में एक विक्षेप उत्पन्न कर देते हैं। यह ईश्वरीय गुणों के स्वतः भाव से परे

हट जाता है। उस स्वतः भाव में ईश्वरीय कार्य स्वयं ही सम्पादित होते हैं, सब प्रकार का प्रबन्ध स्वयं होता है।

जब यह किसी कर्त्तव्य को अपने ऊपर ले लेता है, तो अपनी बुद्धि द्वारा उस विशेष कार्य को सम्पादित करने के लिए, कितने प्रकार के प्रबन्ध और कितनी प्रकार की योजनायें बनाता है? यदि वे कार्य सफल हो भी हो जाएं, तो भी उसके सफल होने पर कभी भी इसके हृदय में आनन्द की उत्पत्ति नहीं होगी क्यों ? क्योंकि **वेदान्तिक दर्शन के अनुसार जिस कार्य को आरम्भ करने से पहले और मध्य में यदि हम विक्षिप्त हो जायें, चिन्तित रहें, भयभीत रहें, तनावित रहें, तो उस कार्य की पूर्णता के बाद भी जो उसका तथाकथित फल होगा, वह हमें चिन्तित, तनावित और भयभीत अवश्य रखेगा।** यह एक दैवीय सत्य है, जिसको मैं कई बार उजागर कर चुका हूँ। तो ईश्वरीय कार्य स्वतः भाव में होता है और ईश्वरीय कार्य तीन आनन्दों से युक्त होता है। कार्य के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में आनन्द। तो मानव बुद्धि के अपने अहम् भाव से शायद इन तीनों आनन्दों का विलोप हो जाता है और मलिनता का प्रारम्भ हो जाती है। बुद्धि मलिन हो जाती है, हृदय मलिन हो जाता है। उसका सम्पूर्ण वातावरण बाह्य और भीतरी मलिन हो जाता है। आनन्द की समाप्ति सी हो जाती है और तनाव, चिन्तायें, भय न जाने कितने प्रकार के भाव उसके हृदय में उत्पन्न हो जाते हैं। **ऐसी स्थिति में यह अपने सच्चिदानंद स्वरूप से हट सा जाता है। यही हट सा शब्द बहुत महत्वपूर्ण है।** इसका सच्चिदानंद स्वरूप कभी भी इससे दूर नहीं हटता। लेकिन अपनी बुद्धि के अहम्वश और उस अहम् से उत्पन्न मलिनता और विक्षेप के कारण यह स्वयं को स्वयं से हटा सा महसूस करने लगता है। यहाँ तक कि कभी–कभी अपने आप से भयभीत हो जाता है और उस भय को समाप्त करने के लिए असफल सा प्रयत्न करता है। उसके लिये न जाने कितने दुर्व्यसनों में पड़ जाता है, जो एक बहुत बड़ी भूल कर बैठता है। अपने उस सच्चिदानंद स्वरूप से परे हटने के बाद यह अपने ही आप से घबरा जाता है और उससे भी दूर हटना चाहता है। उसके लिए वह कुछ ऐसे कृत्रिम साधनों का प्रयोग करता है ताकि वह अपने उस भयावह और चिन्ताजनक स्वरूप से परे हट सके। जब विशेष प्रभु कृपा से, माता–पिता की कृपा से

और अन्ततः स्वयं की आत्म कृपा से उसके ह्रदय में एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि इस महान सच्चिदानंद की सृष्टि में मैं मलिन क्यों हूँ? भयभीत क्यों हूँ? इसका कारण क्या है? **जब यह जिज्ञासा प्रबलतम् एवं तीव्रतम हो जाती है, तो इसको सद्गुरु मिल जाता है।** तब अपनी ईश्वरीय बुद्धि जिसको कहा है विवेक बुद्धि, उससे जुड़ा मानव इस रहस्य को एवं सत्य को पकड़ पाता है और अपनी अहम् बुद्धि द्वारा निर्मित समस्त जगत मानो उसी समय विध्वंस हो जाता है। अपने स्वरूप चिंतन की ओर उसका मन निर्मल होकर अग्रसर होने लगता है। उसकी जीव बुद्धि तुरन्त दिव्य बुद्धि में परिवर्तित हो जाती है। दिव्य बुद्धि इसको शत–प्रतिशत यह विश्वास दिला देती है कि, 'हे मानव! तेरे हाथ में कुछ भी तो नहीं है।' जिसका अगला आने वाला श्वास उसके हाथ में न हो वो भला किस प्रकार अपनी योजनायें बना सकता है और उनको कार्यान्वित कर सकता है।

जब कभी तीव्रतम जिज्ञासा उसमें जाग्रत होती है कि,'मैं कौन हूँ, क्यों बार–बार जन्म लेता हूँ, मरता हूँ, मेरा यहाँ आने का अर्थ क्या है? कहाँ जाना है मुझको इत्यादि–इत्यादि' असंख्य प्रश्नों की झड़ियाँ लग जाती हैं। तो इसकी, मानव बुद्धि अपने में हिल सी जाती है। किसी सद्गुरु की शरण में जाकर इसको यह आभास होता है कि, **'हे मानव ! तू संसार में स्वयं नहीं आया है, तू लाया गया है। तेरा यही लाये जाने का कोई औचित्य है, कोई कारण है इसलिए धैर्यपूर्वक अपने उस कारण को ढूँढ। अपने सच्चिदानंद स्वरूप को पहचान। तू आच्छादित नहीं है आच्छादित सा है।'** तो इस सत्य से इसकी आत्मा जागृत हो जाती है। मानो जन्मों–जन्मांतरों की थकावट सी उतर गई हो। अपने इष्ट के चरणों में चला जाता है, उस परम विशुद्ध अनावृत सच्चिदानंद स्वरूप के सम्मुख।

अपना इष्ट क्या है? इसका स्वयं का परम विशुद्ध आनन्दित स्वरूप, सत्य स्वरूप और ऐसा स्वरूप, जहाँ न जन्म है, न मृत्यु। जो स्वयं में देशातीत, धर्मातीत, कालातीत, कर्त्तव्यातीत एवं यहाँ तक कि लिंगातीत भी है। उस स्वरूप के चिंतन मात्र से इसको आनन्द की अनुभूति होती है। उसके सम्मुख बैठकर जब यह रुदन करता है व अपने ह्रदय के भाव प्रकट करता है, तो इसको लेशमात्र आनन्द की अनुभूति अवश्य होती है।

इसके जीवन का सम्पूर्ण ढाँचा बदल जाता है, मार्ग बदल जाते हैं तथा इसके कार्यों की शैली बदल जाती है। जीवन में हर्ष, उल्लास, अभय का वातावरण जागृत होने लगता है। जीवन जीने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। एक सर्वोत्कृष्ट उपासक की नाईं यह अपने उस सच्चिदानंद स्वरूप के सामीप्य में रहना चाहता है। धीरे–धीरे जैसे–जैसे इसका आनन्द बढ़ने लगता है, तो इसकी सांसारिक कार्यों में रुचि समाप्त हो जाती है और अपने आनन्द का सामीप्य पाने में इसकी रुचि दिन प्रति दिन बढ़ने लगती है। यह संसार की मिथ्या योजनाओं से हटना शुरू हो जाता है और अन्ततोगत्वा हट जाता है।

जब इसको इष्ट कृपा से, सद्‌गुरु कृपा से एवं आत्मकृपा से कभी–कभी अपने परमानन्द स्वरूप की झलकियाँ मिलती हैं, तो उनमें यह मद मस्त हुआ, आत्मविभोर हुआ, सदा–सदा के लिए अपने उस आनन्द स्वरूप की स्थिति में रहने का परम इच्छुक बन कर, संसार की क्षणभंगुर प्राप्तियों और प्रलोभनों से धीरे–धीरे हटना शुरू हो जाता है। इस प्रकार एक समय आता है, जब इसका हृदय मलिन नहीं रहता। जप, तप, दान, पुण्य, यज्ञ, हवन, चिंतन, मनन आदि प्रकरणों से विवेक बुद्धि द्वारा जब इसको सम्पूर्ण एवं परिपक्व विश्वास हो जाता है कि सच्चिदानंद की सृष्टि में समस्त परिपूर्ण है, आनन्दयुक्त है, अभययुक्त है और सब आनन्द ही आनन्द है, उस समय इसकी भाग–दौड़ समाप्त हो जाती है। उस समय यह अपने भीतर की गहराइयों में उतरना चाहता है और उतरने लगता है, स्वयं ऐसी स्थिति बन जाती है। अन्ततः जब इसको अपने स्वरूप की झलक मिलती है, तो यह झल्ला सा बन जाता है। इसकी वह अहम्‌वश मानव बुद्धि, स्वतः ही विलुप्त हो जाती है। विवेक बुद्धि जागृत हो जाती है। इसका स्वयं का मन ईश्वरीय मन में समर्पित हो जाता है। चारों ओर एक दिव्यता से विभूषित आनन्दमय वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इसकी आभा में यदि कोई व्यक्ति आ जाए, तो वह भी आनन्दित हुए बिना नहीं रह सकता। संत की, **सद्‌गुरु की व उपासक की यही पहचान होती है, कि आप उनके समीप चले जाइए, यद्यपि वह मुख से एक शब्द भी न बोलें उनकी समीपता में ही एक आनन्दमय स्थिति बन जाती है।** वहाँ बैठने के बाद समय का कोई भास ही नहीं होता। यह एक नितान्त सत्य है जो बहुत लोगों ने अनुभव किया है। ऐसी स्थिति में इसका मन ईश्वरीय मन में

समाहित हो जाता है। विवेक बुद्धि जागृत हो जाती है और ईश्वरीय मन तुरन्त उसको भोग और आनन्द का अधिकार दे देता है।

आज सारा संसार प्राप्तियों की तरफ भाग रहा है, कोई धन की, कोई स्त्री की, कोई संतान की, कोई पद की ओर। न जाने कितनी भौतिक प्राप्तियों के पीछे भाग–दौड़ चल रही है। किसी के पास यह विचार करने का समय नहीं है, कि जिसके लिए वह भाग रहा है, यदि वह वस्तु उसे प्राप्त हो भी गई, तो उसके पश्चात् क्या उसके आनन्दपूर्वक भोग की निश्चितता है? यदि नहीं है तो भोग और आनन्द को सुनिश्चित कैसे किया जाए? **वस्तुओं की प्राप्ति एक अलग पहलू है लेकिन उनका भोग और 'आनन्दपूर्वक भोग' एक अलग, जो कि मात्र उपासना और आशीर्वाद से ही मिलता है। प्राप्ति का अधिकार तो मिल सकता है धन के व बाहुबल के बूते पर लेकिन उस सांसारिक वस्तु को आनन्दपूर्वक भोगने के लिए उस परम ईश्वरीय सत्ता की समीपता और उन वस्तुओं का उसके चरणों में समर्पण अति आवश्यक है।** उन वस्तुओं को प्राप्त करने का कारण एवं कर्त्ता स्वयं बनना, बहुत बड़ी दैवीय भूल है। उस परम पिता परमात्मा ने हमें धरती पर लाने से पहले ही हमारे भोग की व सुख–सुविधा की समस्त वस्तुएँ स्वयं निर्मित कर दी थीं। यह परम सत्य है। तो जो वस्तुएँ हमारे लिए थीं उन पर हमारा अधिकार क्यों नहीं होता? क्योंकि उनका सबसे बड़ा जो स्वामी है, उसके सान्निध्य में बैठने का हमारे पास समय ही नहीं है। इसलिए आज घर–घर में सुख–सुविधाओं की भरमार है, लेकिन भोग और आनन्द का कोई नाम नहीं है। **भोग हो एवं आनन्दपूर्वक भोग हो इसलिए आवश्यक है कि हम हृदय से, मन से प्रत्येक वस्तु को, यहाँ तक कि देह तक को भी नित्य ईश्वर के सम्मुख समर्पित करें** और उस समर्पण के बाद उससे दिव्य देह की आकांक्षा करें, कि, 'हे प्रभु। मुझे दिव्य देह दे दो, जो उल्लास, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, शक्ति, भक्ति, मस्ती और तुम्हारी कृपा के सागर से परिपूरित हो। जिसमें निरन्तर व अविरल प्रकट अथवा अप्रकट रूप से तेरा जाप चले और जो पुण्य–पाप के सूक्ष्म अहमों से परे हो। हे प्रभु! इस प्रकार की दिव्य देह मुझे दे दो।' इस प्रकार मानव जब आर्त्तनाद करता है, तो कभी न कभी ईश्वर कृपा करके इसको सम्पूर्ण

वरदान दे देते हैं।

ये समस्त प्रार्थनाएँ विवेक बुद्धि ही कर सकती है और इन प्रार्थनाओं में जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, **सकारात्मकता** चाहिए। 'हे ईश्वर! तुम सच्चिदानंद हो, मैं भी सच्चिदानंद हूँ। मैं तुम्हारा अंश हूँ। तुम अभय के, आरोग्यता के सागर हो, मुझे भी अभय कर दो, आरोग्यता दो, ऐश्वर्य दो, बल दो एवं सब प्रकार की कृपाएँ करो, सदगुण दो।' ऐसी सकारात्मक प्रार्थनाओं का परिणाम अवश्य निकलता है, चाहे वह आंशिक रूप से ही हों। उनके परिणाम स्वरूप आपको आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

जैसे ही मलिनता समाप्त होती है, मानव बुद्धि ईश्वरीय बुद्धि में समर्पित होकर समाहित हो जाती है। उसकी स्वयं की बुद्धि का अहम् पूर्णतया लोप हो जाता है। उस विवेक बुद्धि या ईश्वरीय बुद्धि को स्थिर करने के लिए जब मानव जप, तप का सहारा लेता है, सद्गुरु के चरणों में बैठता है, श्रवण, मनन, चिंतन करता है और किसी भी प्रकार से एवं सब प्रकार से, स्वयं को मात्र अपने इष्ट के साथ जोड़े रखता है, तो ऐसी स्थिति में मात्र ईश्वरेच्छा से ही उसका जीवन चलता है। ईश्वर को ऐसे महामानव के लिए सब कुछ स्वयं ही करना पड़ता है। विवेक बुद्धि के जागृत होते ही जब इसका सम्बन्ध ईश्वरीय सत्ता के साथ हो जाता है और हर कृत्य में, हर दृश्य में, हर परिधान में यह उस ईश्वर की सुन्दरता को ही देखता है, अपनी सामर्थ्य के अनुसार पल–पल उसकी प्रशंसा करता है, तो उसके हृदय से मलिनता समाप्त हो जाती है और मलिनता के समाप्त होते ही विक्षेप समाप्त हो जाता है। परम ईश्वरीय कृपा और सद्गुरु के आशीर्वाद से जब मल और विक्षेप हट जाते हैं, तो अन्ततः आवरण स्वयं ही हट जाता है। तब इसको अपने परम सौन्दर्यवान, सशक्त, परम ऐश्वर्यवान, ख्यातिवान, ज्ञानवान तथा त्यागवान, स्वयं के सत्य स्वरूप का दिग्दर्शन होता है।

जिस प्रकार किसी जलाने वाले कोयले को जो स्वयं में कार्बन है, अपने विशुद्धतम् स्वरूप, हीरे का दर्शन हो जाए, तो भला वह पुनः जलाने वाला कोयला बनना क्यों पसन्द करेगा? इसी प्रकार जब किसी मानव को मल और विक्षेप के हटने के बाद स्वयं के सच्चिदानंद स्वरूप की झलक मात्र का दर्शन होता है, तो वह उसमें खो सा जाता है, आत्मविभोर हो जाता है। उसके बाद वह सांसारिक कृत्य तो करता है, लेकिन

उसका एक–एक श्वास, एक–एक पल एक–एक प्राणगति आनन्दमयी हो जाती है। उसके कृत्यों के आयाम बदल जाते हैं। उसके जीवन का ढंग बदल जाता है। उसके सोचने की धारायें बदल जाती हैं और वह एक असाधारण व्यक्ति बन कर संसार में, छा जाता है। **जैसे ही एक बार आवरण हट जाता है, तो शास्त्र के नियमानुसार दोबारा कभी नहीं पड़ता।** ऐसे ब्रह्मज्ञानी व आत्मज्ञानी संसार में बार–बार जन्म नहीं लेते और यदि लेते भी हैं, तो मात्र लीलाओं के लिए लेते हैं। यहाँ पैदा होना–मरना, खोना–पाना, आबाद होना– बर्बाद होना इत्यादि ये संज्ञायें उनके लिए अपना कुछ भी महातम नहीं रखतीं। ऐसे मानव ईश्वर के सम्पूर्ण गुणों से, हर्षोल्लास से एवं अभय से परिपूरित होते हैं, अनावृत हो जाते हैं। उनके सान्निध्य में आने वाले लोग एवं उनके पास बैठने वाले लोग भी आनन्दित व उल्लसित हो जाते हैं। ऐसे अनावृत महामानव ईश्वर कोटि में आ जाते हैं। ईश्वर के अंशावतार होते हैं। संसार में लीला करने आते हैं। आनन्दपूर्वक उत्पन्न होकर, आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हुए आनन्दपूर्वक ही देह त्याग देते हैं और इस प्रकार इनका संसार में आना एक आनन्दमय आयाम होता है। जबकि साधारण मानव आनन्द की खोज में बार–बार जन्म लेते हैं और बुद्धि की मलिनता के कारण वे आनन्द की बजाय मात्र सुखों के पीछे भागते हैं, जो इन्द्रियों का विषय हैं।

भोग–पदार्थों की अपनी एक सीमा है और उनकी भोगने के लिए मानव की अपनी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक शक्ति की भी एक सीमा है। यदि इन सीमाओं को बढ़ा भी दिया जाए, तो भी वह शक्ति सीमित ही रहती है। परंतु आवरण हटने के पश्चात् मानव आनन्द के असीम सागर मे प्रवेश कर जाता है। यही जीवन का लक्ष्य है।

।। जय जय श्री राम।।

जीव सृष्टि

अपने आराध्य देव प्रभु श्री हनुमान जी की प्रेरणा एवं आदेशानुसार आपके सम्मुख एक रोचक एवं अति विचारणीय विषय प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसका शीर्षक है– **जीव सृष्टि**।

यूँ तो सम्पूर्ण कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड और इस महा विस्तृत अति विशाल सृष्टि का निर्माणकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता सच्चिदानन्द ईश्वर है, जो स्वयं में अजर एवं अमर है। उसी ईश्वरीय मन एवं माया से ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उत्पत्ति होती है। समस्त नाम और रूप में इस महाब्रह्माण्ड की, जो भी सृष्टि है सब **मायामय** है। अक्सर सुनने और पढ़ने में आता है कि मन को बस में करो। माया पर नियंत्रण करो। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कौन सा मन, कौन सी माया? क्या एक तुच्छ बल, बुद्धि एवं विद्या से युक्त ऐसा जीव जिसका स्वयं का कोई अस्तित्व ही नहीं है, जो उस परम निर्माणकर्त्ता के द्वारा पंच महाभूतों की बनी एक मुट्ठी मात्र है, तो क्या वह ईश्वरीय माया एवं मन को बस में कर सकता है? उसको बस में करने का औचित्य ही क्या है? यदि मन और माया के बस में करने के लिए महापुरुषों ने बार–बार अनुरोध किया है, तो वह मन और माया कौन सी है? यही एकाग्रता का विषय है।

यहाँ पर पदार्पण होता है जीव–सृष्टि का, जीवीय मन एवं माया का। अब इसका निर्माण कैसे हुआ, इसका पालन कैसे होता है, इसका अंत कैसे होता है और किस प्रकार ईश्वरीय मन एवं माया, जीवीय मन एवं माया पर नियंत्रण करते हैं? किस प्रकार उनके बीच में दरार आती है, जिसके कारण जीव सुखी, दुखी, जन्म, मृत्यु, खोना, पाना और न जाने कितनी संज्ञाओं में जन्म–जन्मांतरों तक भटकता रहता है। इस पर विचार होना अति आवश्यक है।

मानव बुद्धि का निर्माण ईश्वर ने मात्र इसलिए किया ताकि मानव अपनी परम उत्कृष्ट बुद्धि द्वारा उस महानायक ईश्वर के कृत्यों को अत्याधिक विचार कर उनकी सराहना एवं प्रशंसा करे, वाह–वाह करे। उसका नाम जपे, उसका चिंतन एवं मनन करे और हर पल, हर क्षण बदलती हुई उसकी विभिन्न विधाओं को, उसकी प्रकृति के विभिन्न रूपों का रसास्वादन करे, आनन्द ले। लेकिन महादुर्भाग्य, इस पृथ्वी पर आते ही

और इस तथाकथित बुद्धि का विकास होते ही मानव स्वयं भू ईश्वर बन बैठा, मानो सारे संसार का रचयिता, पालनकर्ता और संहारकर्त्ता वह स्वयं ही है। जहाँ बुद्धि विकसित हुई, उससे उठने वाले विभिन्न विचारों को लेकर वह कर्म करने लगा, तथाकथित कर्म।

यदि आप गहनता से विचार करें, तो आप मुझसे सहमत होंगे कि किसी भी कर्म के करने से पहले एक विशेष मानवीय भाव होता है और उसी भाव से उस कर्म को किया जाता है। कर्म की समाप्ति के बाद एक अन्य भाव होता है। **मानवीय कर्म के प्रारम्भ होने से पहले जो भाव होता है, वह है मानवीय भाव।** उसमें उसकी स्वयं की बुद्धि का अत्याधिक योगदान होता है। लेकिन जो भाव किसी भी कृत्य के बाद बनता है, वह यद्यपि मानवीय ही होता है, लेकिन उस पर सम्पूर्ण अधिकार ईश्वरीय शक्तियों का होता है। वह भाव मानो उस कर्म का फल है और उस अन्तिम भाव के अनुसार ही मानव की वृत्ति बनती है। यहाँ आवश्यक समझने की बात यह है, कि **यदि पहला भाव आनन्द में और अन्तिम भाव आनन्द में हो, तो समझिये बीच का कर्म भी आनन्दमय ही होगा और वह अन्तिम भाव किसी वृत्ति का निर्माता नहीं बनता।** वह सम्पूर्ण प्रकरण ईश्वरीय होता है। मात्र लीला होती है। लेकिन यदि प्राथमिक भाव कुछ और हो एवं अन्तिम भाव कुछ और हो तो समझिये मानवीय सृष्टि है। मानव की बुद्धि का योगदान है।

अन्तिम भाव और अन्तिम भावों का समूह एक मानवीय वृत्ति बनता है। वृत्तियों के समूह को कहा है **अवधारणा।** जब एक ही प्रकार के भाव से मानव अनन्य कर्म करता रहता है, तो उसकी विशेष वृत्तियों का निर्माण होता है और उन वृत्तियों के समूह से ही उसकी विशेष अवधारणायें बनती हैं, जो उसके संस्कारों में परिणत हो जात हैं। **अन्ततः यह संस्कार उसके स्वभाव में बदल जाते हैं और इन स्वभावों का समूह है मानवीय मन।** यहाँ पर यह जानना अति आवश्यक है, कि इस सम्पूर्ण प्रकरण में ईश्वरीय शक्ति ही कार्य करती है और यह **सम्पूर्ण प्रकरण मानव के अहम् पर आधारित है** कि, 'मैं अमुक कर्म का कर्त्ता हूँ एवं अमुक–अमुक कर्म मेरे बिना नहीं हो सकता' इत्यादि। मानव मन जो उसके विभिन्न स्वभावों का समूह है वे स्वभाव पुन. भाव में बदलते हैं और उन भावों के अनुसार मानव विभिन्न कर्मों में या एक ही प्रकार के

विशिष्ट कर्मों में पुनः–पुनः प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यह चक्र जन्म–जन्मांतरों तक चलता रहता है। यही चक्र जीव–सृष्टि का निर्माण करता है। जीव, जन्म–जन्मांतरों में वहीं का वहीं, उन्हीं सम्बन्धों में, उसी प्रकार की सृष्टि में, उसी प्रकार की जलवायु में और उसी प्रकार के वातावरण में घूमता रहता है। मात्र, नाम–रूप बदल जाते हैं। लेकिन जीव–सृष्टि वही की वही रहती है। थोड़ा बहुत रूपान्तर हो जाता है। यही जीव–सृष्टि का सत्य है।

जीव की प्राप्ति में जितनी भी भौतिक वस्तुएँ होती है, धन–सम्पदा, संतान, पद, शिक्षा, स्त्री व अन्य जितनी भौतिक शारीरिक शक्तियाँ होती हैं वह है जीवीय माया। इस माया को मानव निर्मित करता है। यहाँ पर यह जानना अति आवश्यक है, कि मानव मन में और मानव माया में आपस में कोई विशेष नियमित तालमेल नहीं है। इसको मैं थोड़ा विस्तार में आपके सम्मुख बताने का प्रयत्न करूँगा। अक्सर जीव माया के पीछे दौड़ता है, अधिक–अधिक धन चाहता है, यश चाहता है, उन्नति चाहता है, सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति चाहता है। उन्हें पा भी लेता है लेकिन प्राप्ति के बाद अक्सर और विक्षिप्त हो जाता है। उसका कारण क्या है? जब भी किसी मायिक पदार्थ की प्राप्ति होती है, मानव का उस प्राप्ति के पीछे एक लक्ष्य होता है। वह उस प्राप्ति का आनन्दपूर्वक भोग चाहता है, लेकिन ऐसा क्यों नहीं होता? किसी भी वस्तु की प्राप्ति के बाद जब मानव उसका भोग करना चाहता है, तो यहाँ पर एक अति आवश्यक नियम यह है, कि **जब तक उस वस्तु पर मानव का अधिकार नहीं होता, तब तक वह वस्तु का भोग नहीं कर सकता।** मानव मन, माया के पीछे भागता है, इन्द्रियों पर नियंत्रण खो देता है। मायिक पदार्थ प्राप्त होते हैं, फिर और–और चाहता है और उनको भोगना चाहता है, लेकिन पदार्थों की प्राप्ति में और उसके मानसिक अधिकार में जब कोई तालमेल नहीं होता, तो उन पदार्थों का वह भोग नहीं कर सकता।

दूसरी, विचारणीय बात यह है कि जब मानव मन में अधिकार उत्पन्न हो जाता है तो किसी वस्तु के भोग के लिए उसकी प्राप्ति का होना आवश्यक नहीं है। **अतः प्राप्ति से आवश्यक है, अधिकार।** आज सम्पूर्ण जगत मात्र प्राप्ति के पीछे दौड़ रहा है। इसलिए आज तनाव, भय और विक्षेप का वातावरण चहुँ ओर व्याप्त है। मानव मन का

जब अधिकार जागृत होता है, तो प्राप्त अथवा अप्राप्त वस्तुओं का वह भोग करता है। लेकिन यहाँ पर एक तीसरा, विचार यह है कि **मानव मन ईश्वरीय मन में समर्पित हुए बिना उन वस्तुओं का भोग तो कर लेता है, लेकिन अन्ततः वह विक्षिप्त हो जाता है आनन्द नहीं ले पाता।**

जन्म–जन्मांतरों में मानव इसी श्रृंखला में, इसी भ्रम में व काल–चक्र में घूमता रहता है। कभी विशिष्ट गुरु कृपा, इष्ट कृपा एवं आत्म कृपा से उसको जागृति होती है कि उसे अपने मानव मन को ईश्वरीय मन के सम्मुख नतस्तक होकर समर्पित करना अति आवश्यक है। यद्यपि मानव मन के निर्माण में ईश्वरीय शक्ति का ही योगदान है, लेकिन वह मानव के अहम् से निर्मित होता है। **यहाँ मानव जब अपने अहम् को समाप्त कर देता है या अत्याधिक बढ़ाकर ईश्वरीय अहम् में परिवर्तित कर देता है तो मानवीय मन, ईश्वरीय मन में समर्पित हो जाता है।** उस समर्पण के तुरन्त बाद मानवीय मन में एक अगाध अधिकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। **अथाह अधिकार! जिसको पाने के बाद वह मानव, वास्तव में ईश्वरीय पुत्र बन जाता है, ईश्वरीय संतान, जो कि वह होता ही है।**

सारा संसार ही ईश्वरीय मन से उत्पन्न हुआ है लेकिन उस विशिष्ट अधिकार को पाने के बाद उस **मानव में एक विचित्र चेतना जाग्रत हो जाती है कि, 'मैं ईश्वर की संतान हूँ। सम्पूर्ण कोटि–कोटि महाब्रह्माण्डों में जितनी भी वस्तुएँ हैं, जितनी भी निधियाँ हैं, समस्त मेरे और मात्र, मेरे लिए है, मेरी नहीं है, मेरे लिए है।'** समस्त वस्तुओं पर उसका अधिकार हो जाता है। उन समस्त वस्तुओं को भोगने की उसकी क्षमता हो जाती है। अब यह दूसरी बात है, कि वह उनको भोगना चाहे अथवा नहीं। यहाँ वस्तुओं की प्राप्ति आवश्यक नहीं है। जब मानव मन ईश्वरीय मन में समर्पित हो जाता है, तो जितनी भी मानवीय माया है वह सम्पूर्ण ईश्वरीय माया में तुरन्त परिणत हो जाती है। उस समय उसमें एक विशेष आनन्द की अनुभूति उत्पन्न हो जाती है और वस्तुओं का भोग व प्राप्ति वहाँ पर कोई महातम नहीं रखती। वह अपने में मस्त हो जाता है, भाव–विभोर हो जाता है। तो यह स्थिति होती है जब मानव मन ईश्वरीय मन के सम्मुख समर्पित हो जाता है। अन्यथा इस संसार में उत्पन्न

होने के बाद मानव की दौड़ मात्र वस्तुओं की प्राप्ति के पीछे ही चलती है। अन्ततः वह संसार से जीवन की अवधि समाप्त होने के बाद विदा ले लेता है। वस्तुएँ वहीं की वहीं रह जाती हैं। पृथ्वी, धन, सम्पदा, पद स्त्री, संतान और न जाने क्या–क्या सब छोड़ कर संसार से विदा हो जाता है और पुनः–पुःन उन्हीं वस्तुओं को प्राप्त करने की चेष्टा में लग जाता है। कितना महादुर्भाग्य है, लेकिन **जब इष्ट कृपा से इसके मन का समर्पण हो जाता है, तब इसकी चेतनता का स्तर ऊँचा उठने लगता है और यह कभी भी मायिक पदार्थों के पीछे नहीं भागता।**

अतः हमें नियंत्रण करना है मानविक मन को, ईश्वरीय मन को नहीं और इसको नियंत्रित करके ईश्वरीय मन के सम्मुख समर्पित करना है और इसी को शास्त्रकारों ने कहा है 'पुरुषार्थ'। सत्य यह है कि मानव जब इस धरा पर आता है तो उन समस्त वस्तुओं को साथ में ही लेकर आता है जो उसको जीवन काल में तथाकथित प्रयासों के बाद मिलती हैं। भला विचारिये, कि माँ के गर्भ में 9 महीने 7 दिन में जब इतनी उत्कृष्ट मानव देह हमको प्राप्त हो जाती है, तो क्या इस देह को चलाने के लिए हमें प्रयत्न की आवश्यकता होगी ? यह पंच महाभूत जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि व आकाश किसने निर्मित किये हैं? मानव देह के लिए सबसे अधिक वायु आवश्यक है। कुछ क्षण यदि वायु न मिले तो देह मृतक हो सकती है, प्राण छूट सकते हैं। इस सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में इतनी वायु का निर्माण क्या मानव ने किया है ? उसके बाद चाहिए जल। असंख्य स्त्रोत जल के इस विश्व में क्या मानव ने बनाये हैं? यदि मानव धैर्यपूर्वक अपनी बुद्धि से विचार करें, तो उसे यह ज्ञात हो जाएगा कि वह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड नायक जो असंख्य समुद्री जन्तुओं का, आकाश में उड़ने वाले पक्षियों का और वन में रहने वाले असंख्य पशुओं का पालन–पोषण करता है, उसने मानव के पोषण के लिए भी पूरे प्रबन्ध किये हैं। लेकिन अज्ञानवश और ईश्वर के विमुख होकर दुर्भाग्यवश, मानव यह समझने लगता है, कि अपनी देह का और देह से सम्बन्धित सगे–सम्बन्धियों का पालनकर्ता वही है। तो इस भाव के जागृत होते ही मानव बुद्धि तुच्छता में उतर आती है और वहाँ से प्रारम्भ होती है मानव मन की सरंचना, जिसका मैं अभी–अभी वर्णन कर चुका हूँ। वहाँ से दुखों और तनावों की लहर शुरू होती है। तो

जितने भी कष्टों, भय व दुःखों के कारण इस पृथ्वी पर हैं, वह हैं–मानव बुद्धि के दुरुपयोग और उसके अहम् से बनी जीव–सृष्टि, जीवीय मन व उसके स्वभाव के कारण। इस उलझन को सुलझाने के लिए उस तथाकथित मानव मन का सब प्रकार से और किसी प्रकार से भी अपने इष्ट के सम्मुख समर्पित होना कि 'हे प्रभु! मैं जन्म–जन्मान्तरों से भटक रहा हूँ। मैं उलझा हुआ हूँ। मैं तनावित हूँ। मैं तुम से विमुख होकर कभी भी सुखी नहीं हुआ'। एक अबोध बालक की तरह रुदन करता हुआ जब जीव अपने इष्ट के चरणों में समर्पित हो जाता है, तो कभी न कभी ईश्वर की उस पर कृपा अवश्य हो जाती है। समस्त जीवीय सृष्टि, ईश्वर सृष्टि में परिवर्तित हो जाती है। **मानव मन ईश्वरीय मन हो जाता है और उसी समय मानवीय माया ईश्वरीय माया में परिवर्तित हो जाती है।**

आपने इतिहास के पन्ने पलटे होंगे। बड़े–बड़े योद्धा, मेधावी लोग, राजा–महाराजा, महा विद्वान, एक से एक बढ़कर भौतिक क्षेत्रों में अति विलक्षण बुद्धि के लोग एवं विलक्षण बल से युक्त लोग हुए, जिन्होंने बहुत चमत्कारिक कार्य किये हैं। कुछ लोग तो पूर्व जन्मों से अपनी एक विशेष चेतना के स्तर की मानसिक संरचना लेकर आते हैं और कुछ लोग साधना द्वारा, विशिष्ट प्रकार के पुण्य कर्मों जैसे यज्ञ, हवन एवं जप, तप इत्यादि द्वारा अपनी मानसिक शक्तियों की वृद्धि करते हैं। उनमें एक विशेष अधिकार की मात्रा बढ़ जाती है। जिसके बढ़ते ही उनके भोग की क्षमता का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है। ऐसे व्यक्ति समष्टि में भी विचरते हैं, लेकिन अन्ततः असंतुष्ट ही रहते हैं। कारण, कि इतनी मानसिक क्षमता की वृद्धि के होते भी वे ईश्वरीय मन से अपने आपको परे रखते हैं। ईश्वर के विमुख ही रहते हैं। यद्यपि अपने अहम् द्वारा और अपनी विशेष साधनाओं द्वारा वे अपने मन का अधिकार क्षेत्र बढ़ा लेते हैं। कोई कितनी विशालतम्, विस्तृततम्, गहनतम् नदिया हो, उसमें भी एक चंचलता होती है, एक दौड़ होती है और वह दौड़ मात्र वही समाप्त होती है, जब उसका मिलन सागर में हो जाता है। सागर में समाहित होते ही सरिता अपना नाम–रूप खो देती है। उसका एक–एक कण, एक–एक बूँद, सागर बन जाती है और वहीं होती है उसकी असीम की सतुंष्टि। इसी प्रकार जीव जन्म–जन्मान्तरों में भटकता हुआ, भिन्न–भिन्न वस्तुओं में,

भिन्न–भिन्न उपलब्धियों में अपनी मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों का दुरुपयोग करते हुए भाग–दौड़ करता रहता है। वस्तुएँ उपलब्ध हो जाती हैं, उनका भोग भी मिल जाता है, लेकिन इसे संतोष नहीं मिलता, जब तक अपना नाम–रूप, अपनी समस्त भौतिक लपब्धियाँ, समस्त योजनाएं, समस्त अहम्, वह ईश्वरीय योजनाओं में व ईश्वरीय अहम् में परिवर्तित न कर दें। तब मानव जीवन का एक–एक क्षण, एक–एक पल ईश्वरीय हो जाता है। हम दिव्यता में परिवर्तित हो जाते हैं। हमारा यहां कुछ भी नहीं रहता, परन्तु सब कुछ हमारे लिए है, ऐसा आभास होने लगता है। यही परम सत्य है, यही पुरुषार्थ है।

आज सभी लोग कर्म की दुहाई देते हैं, कुछ स्वयं को अति कर्मठ मान लेते हैं। यहाँ तक कि कुछ स्वयं को तथाकथित कर्मयोगी भी घोषित कर देते हैं। लेकिन क्या वे जानते हैं कि कर्म क्या है? कर्मयोग क्या है 'क्या सम्पूर्ण जीवन, मात्र अपनी देह के लिए ही सोचना, उसी के लिए कर्म करना कर्म है ? यह तो जन्म–जन्मांतरों में प्रत्येक जीव, प्रत्येक मानव अपनी क्षमता के अनुसार करता ही रहता है। क्या लेकर आते हैं हम संसार में ? मात्र, एक छोटी सी नग्न देह। संसार से विदा होते समय भी हमने संसार में आकर जो कुछ भी संचित किया वह यहीं छोड़कर चले जाते हैं। यह नग्न सत्य है जिसको कोई भी नकार नहीं सकता। तो क्या हम सुलझन और उलझन के इस प्रकरण में ही घूमने के लिए इस जगत में आते हैं? क्या हमारे जीवन का यही लक्ष्य है कि अपने लिए कुछ विशेष शिक्षा, पद, कुछ विशेष वाहन एव विशेष प्रकार की सुविधायें अर्जित करें और पुनः उनको छोड़कर चले जायें? आपकी कितनी भी बड़ी शिक्षा क्यों न हों, कितनी भी डिग्रियों से आप सुसज्जित क्यों न हों, भला विचारिये अगले जन्म में आपको पुनः शून्य से ही शुरू करना पड़ेगा। तो क्यों न कुछ ऐसा अर्जित किया जाये, जो जन्म–जन्मांतरों में हमारे साथ चले और वह है–**हमारी मानसिक चेतना का स्तर**। यद्यपि उसके पीछे ईश्वरीय शक्ति ही काम करती है, लेकिन मानव की स्वयं की माया और स्वयं का मन उसके सम्पूर्ण कार्यक्रम को उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक निर्धारित करते हैं। जो भाव हमारे मानस पटल पर अंकित होते हैं, वही हमारे साथ चलते हैं और उन्हीं के अनुरूप हमारा अगला जन्म निर्धारित होता है। लेकिन सत्संग द्वारा और

सद्गुरु कृपा द्वारा जब कभी मानव को यह ज्ञान हो जाये, कि यह जीवीय मन एवं माया मात्र उसके अहम् का ही प्रगटीकरण है और यदि वह अपने अहम् से छूट जाएं एवं अपने इष्ट के चरणों में समर्पित हो जाये, तो मानव मन तुरन्त ईश्वरीय हो जाता है और उसके बाद यह जन्म–जन्मांतरों की दौड़–धूप से बच जाता है। यदि यह जन्म धारण भी करता है, तो मात्र लीला के लिए। जिस प्रकार महापुरुष इस पृथ्वी पर आते हैं और किसी विशेष क्षेत्र में खेलने के बाद वे संसार से आनन्द में ही विदा हो जाते हैं। जीवन में सत्संग का अति महातम है। जो व्यक्ति मात्र एक ही भौतिक प्रकरण में अपना जीवन व्यतीत कर देते हैं, वे अन्ततः जीवन के अन्तिम क्षणों में निराशा में अवश्य चले जाते हैं। आज विश्व में प्रत्येक व्यक्ति को कम या अधिक निराशा अवश्य व्याप्त है, विशेष कर बुद्धिजीवी वर्ग में। उसका कारण यह है कि मात्र बुद्धि की दौड़ ही उनके लिए सर्वोत्तम है। होश सभालते ही उनके और उनके माता–पिता के संस्कारों वश, उनके वातावरण एवं संसार की आधुनिकतावश वह यह मान कर चलते हैं, मानो उनके जीवन का निर्धारण व उनका पालन–पोषण वे स्वयं ही करते हैं। उनका अहम् इतना बढ़ जाता है, कि सभी कुछ वह स्वयं को ही मान लेते हैं जो कि अति दुर्भाग्य का विषय है। ऐसे व्यक्तियों का अन्त निराशाजनक अवश्य होगा।

ईश्वर ने कोटि–कोटि महाब्रह्माण्डों का निर्माण किया है। उनका पालन एवं संहार भी वे स्वयं ही करते हैं। असंख्य नदियाँ, विस्तृत सागर, पर्वत श्रृंखलायें, विभिन्न प्रकार की वन सम्पदा, असंख्य जीव–जन्तु, सागर के जलचर, नभचर और थलचर जिनका सम्पूर्ण पालन पोषण वह महाशक्ति स्वयं ही करती है। कैसा अनुकूलित वातावरण प्रत्येक जीव को उसके अनुसार दिया है, जो उस जीव के निर्वाह के लिए कितना उपयुक्त होता है। इन जीव जन्तुओं में बहुत नगन्य बुद्धि होती है। उनकी सोचने की क्षमता बहुत कम होती है और जो होती भी है, वह मात्र उनके स्वयं के जीवन के लिए होती है। तो ऐसे में यदि हम विचार करें, कि जो प्रभु इतने विशालतम जीव जन्तुओं का, असंख्य वनस्पतियों का, सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का अति सुचारु एवं पूर्णता से समस्त ध्यान रखते हैं, तो क्या वह छोटी सी मानव देह को नहीं चला सकते, लेकिन महादुर्भाग्य! बुद्धि के विकास के साथ ही मानव स्वयंभू ईश्वर बन बैठा। कई तो स्वयं को

ईश्वर घोषित करवाने में बड़े आनन्दित होते हैं। आज आपको मानवों में कई स्वयंभू ईश्वर सुनने में मिलेंगे, विशेष कर भारत में। वे स्वयंभू ईश्वर अपनी स्वयं की रचना रचाने लगते हैं और उनके द्वारा रचाई गई रचनायें यह विभिन्न धर्म, कर्म, पद्धतियों, आज संसार में कोलाहल का, मारकाट का और एक दूसरे से धृणा का कारण बन कर हमारे सामने दिग्दर्शित होती हैं। यह एक नितान्त सत्य है। जो–जो स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधि बना है या जिसने अपने आपको प्रतिनिधि समझा है, उसने कहीं न कही मानवों में दरारें डाल दी हैं। हर एक व्यक्ति एक दूसरे से अलग हो गया है। यद्यपि बहुत उत्तम एवं पुनीत सिद्धान्तों का सर्वत्र बोलबाला है। विभिन्न धर्मों में बड़े–बड़े ग्रन्थों की रचना हो चुकी है, कि किस प्रकार कोई मानव अपना परम उत्कृष्ट जीवन बिता सकता है। लेकिन यह अचानक मारकाट, आंतक, अत्याचार निर्दयता, निर्धनता, विशेष रोग, दोष, समाजिक प्रदूषण, वातावरण का प्रदूषण, पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि एवं वायु का प्रदूषण आज क्यों बढ़ रहा है? अंशान्ति क्यों बढ़ रही है ? प्रत्येक व्यक्ति भयभीत क्यों है ? हमें इस पर गहनता से विचार करने की परम आवश्यकता है।

प्राप्तियों के लिए प्रत्येक बुद्धिजीवी दौड़ता है। किसी भी प्रकार से, छल से, कपट से प्राप्तियाँ एवं उपलब्धियाँ कर भी लेता है लेकिन जैसा कि मैं वर्णन कर चुका हूँ, कि जब तक उसकी मानसिक शक्ति और उसका अधिकार नहीं बढ़ता, तब तक वह सांसारिक वस्तुओं का भोग नहीं कर सकता। जब वस्तुएँ, धन, सम्पदा इत्यादि उसके मानसिक अधिकार के स्तर से ज्यादा इकट्ठी हो जाती हैं, तो उसके लिए एक भय का हेतु बन जाती हैं। वह अस्थिर हो जाता है। तनाव ग्रसित होने के पश्चात् उसमें विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों का पदार्पण होता है। विभिन्न प्रकार के कष्ट एवं दुख उसको घेर लेते हैं और इस प्रकार यह जीवन लीला समाप्त हो जाती है। वही तनाव लिए हुए मानव फिर पैदा होता है। इन सब तनावों से इनका कारण जानते हुए छुटकारा मिलना आवश्यक है अन्यथा जीवन का अर्थ क्या हुआ?

एक विशेष मानसिक चेतना के स्तर के साथ न केवल आध्यात्मिक बल्कि भौतिक जगत का भी एक विशेष स्तर होता है। एक विशेष उपलब्धि होती है जो मानव के अधिकार में ही रहती है। उसका वह भोग कर सकता है। यदि कोई दुर्बल मन का है,

जिसमें मानसिक चेतना की कमी है और वस्तुओं की अधिकता है, तो वस्तुओं की प्राप्ति में और उन पर अधिकार में तालमेल समाप्त हो जाता है। उससे भय उत्पन्न होता है। वस्तुएँ बहुत हैं, धन, सम्पदा एवं पद भी बहुत बड़ा है, लेकिन भय भी उतना ही अधिक हो जाता है। तो यहाँ पर यह जानना परम आवश्यक है, कि वस्तुओं की उपलब्धि के साथ–साथ उनको भोगने के लिए एक मानसिक अधिकार का होना परम आवश्यक है। यदि वह अधिकार पहले से ही उत्पन्न हो गया हो, तो वस्तुएँ स्वयं चलकर आ जातीं हैं। उनकी उपलब्धि के बाद कुछ विशेष उल्लास नहीं होता और यदि वे प्राप्त न भी हों तो उससे निराशा नहीं होती। इग्लिश में एक कहावत है कि First deserve then desire लेकिन यह बहुत अधूरी कहावत है। इसका मैं रूप परिवर्तन कर रहा हूँ और जो आपको अधिक सत्य लगेगा कि Just deserve only, you need not to desire.

जितना भी ऊँचा हम अपने जीवीय मन का स्तर कर दें, जब तक यह ईश्वर के चरणों में समर्पित नहीं होगा तब तक मानव असंतुष्ट का असंतुष्ट ही रहेगा। मानसिक चेतना को व मानसिक शक्तियों को वृहद् करना, विस्तृत करना एवं विकसित करना पुरुषार्थ के क्षेत्र में आ जाता है। अपनी मानसिक क्षमताओं को और समस्त मायिक पदार्थों को यदि हम नित्य अपने इष्ट के चरणों में समर्पित करते जायें तभी हम उनका आनन्दपूर्वक भोग कर सकते हैं। कोई मानवीय मन भले ही कितना सशक्त क्यों न हो, जब तक वो ईश्वर के सम्मुख नतस्तक नहीं होगा, तब तक वह अस्तुष्ट ही रहेगा, यही प्रकृति का नियम है, यही सत्य है।' हमें अपनी दौड़ की दिशा बदलनी है, आज ही! अभी ही! कहाँ भाग रहे हैं, कहाँ जाना चाहते हैं हम ? क्या बनना चाहते हैं हम? अन्ततः हम चाहते क्या है ? इस पर नित्य विचार होगा। परम आवश्यक है और जो हम चाहते हैं, हमको उपलब्ध हो भी गया तो फिर क्या हो जायेगा, यह जानना आवश्यक है। जब हम अति गम्भीरतापूर्वक इस विषय पर नित्य विचार करते हैं, तो हमारे मानविक मन में एक विलक्षण परिवर्तन आ जाता है।

हमारी बाह्य जगत की दौड़ न केवल निरर्थक है, बल्कि नकारात्मक है। निरर्थक दौड़ इतनी कष्टमय नहीं होगी जितनी कि नकारात्मक। आप मेरी बात से अवश्य

सहमत होंगे। यह नकारात्मक दौड़ मानव, जीवन पर्यन्त दौड़ता रहता है लक्ष्यहीन। विचारहीन। चार कदम आगे दौड़ता है तो आठ कदम पीछे हो जाता है। उसकी उन्नति अथवा अवनति का कोई मापदण्ड ही नहीं होता और न हो सकता है। इस प्रकार जीवन यात्रा समाप्त हो जाती है। पुनः–पुनः यह इसी प्रकार के खेल खेलता रहता है। इस प्रकार अपने आपको तथाकथित बहुत व्यस्त कहलाने वाला मानव कभी न कभी ऐसी मानसिक और शारीरिक स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ पर उसकी दशा को **'दयनीय'** घोषित किया जा सकता है।

ईश्वर ने हमें कितना समय दिया है, तो क्यों न हम उसका सदुपयोग करें। हमें अपनी मानसिक चेतना को बढ़ाना है और साथ ही साथ उसको ईश्वर के समर्पित भी करना है, जो कि परम आवश्यक है। **मानसिक चेतना का स्तर बहुत ऊँचा उठ जाये यह इतना आवश्यक नहीं बल्कि आवश्यक यह है कि जो भी चेतना का स्तर है वह ईश्वर समर्पित हो जाये।** उसमें समर्पित होते ही वह असीम हो जायेगा और मानव इतना आनन्दित हो जायेगा, कि उसको वस्तुओं और वस्तुओं के भोग की, नाम की व यश की कोई आकांक्षा ही नहीं रहेगी। उसका जीवन मात्र, एक लीला के लिए होगा। ऐसे महामानव जब संसार में पदार्पित होते हैं, तो उनके जीवन का एक विशेष लक्ष्य होता है। वे मानवता के लिए एक संदेश लेकर आते हैं, कि किस प्रकार भूला–भटका मानव विचार करने के लिए बाध्य हो जाये कि, 'सत्य क्या है, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ मैं, मुझे कहाँ जाना है, मैं यहाँ पर लाया क्यों गया हूँ' जब तक हम इस खोज में एवं गहनतम् विचार के सागर में डूबते नहीं है, तब तक जीवन निरर्थक ही रहता है। बल्कि निरर्थक से ज्यादा नकारात्मक हो जाता है।

अर्थहीन जीवन जीने का कोई कारण नहीं है। इसको सार्थक करना है हमें, आज ही, अभी ही। **जीवन में यदि कोई परम कर्त्तव्य है, यदि कोई पुरुषार्थ है, तो यही कि जन्म–जन्मांतरों से हम अपने जिस मानविक मन को विभिन्न संस्कारों से व स्वभावों से युक्त लिए चले आते हैं उसको अभी ईश्वर समर्पित करना है।** जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि मानव मन में जो भी संरचना होती है, जो भी प्रकरण होते हैं, उसमें ईश्वरीय शक्ति ही कार्य करती है। जिसे हम **मानव**

मन कहते हैं, वह वास्तव में मानव मन नहीं है। वह ईश्वर द्वारा ही निर्मित है। लेकिन मानव उस पर जब अधिकार कर लेता है कि, 'यह मेरा मन है' तब वह मानव मन की कोटि में आ जाता है। उस स्वयंभू निर्मित मन और स्वभाव के पुँज की ग्रन्थि को यदि मानव उस महाकाल ईश्वर में समर्पित कर दे, तो उसमें कोई संदेह नहीं है, कि वह तुरन्त एक विलक्षणता एवं दिव्यता को प्राप्त कर लेता है। इसी सत्य के उद्घोष के बाद मैं इस विषय को यही विराम देता हूँ। **हमें अपने अमूल्य जीवन का समय पुरुषार्थ में बिताना है अपने स्वरूप को समझने में बिताना है। अपनी मानसिक शक्तियों को प्रज्जवलित कर उसको ईश्वरीय शक्तियों में समर्पित करने में बिताना है।**

।। जय जय श्री राम।।

अर्ध–सत्य

इष्ट कृपा से आज आपके सम्मुख एक बहुत रोचक विषय प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। इस विषय का नाम है– **'अर्ध सत्य'**। जैसा कि पिछले एक प्रवचन में मैं स्पष्ट कर चुका हूँ, कि भौतिक जगत में कोई भी परिस्थिति या कोई भी प्रणाली बिना परिपूरक विधा के नहीं होती। जहाँ कोई पति बनता है, तो उसकी परिपूरक विधा पत्नी भी साथ होती है। जहाँ कोई भाई बनता है वहाँ बहन, पिता बनता है वही पुत्र, गुरु बनता है वहाँ शिष्य एवं जहाँ स्वयं को कोई धनवान समझता है तो उसके साथ निर्धनता इत्यादि ये परिपूरक विधायें है। सम्पूर्ण जगत का निर्माण, पालन एवं विध्वंस इन्हीं परिपूरक विधाओं के अन्तर्गत ही होता है। देखने में तो यह सापेक्षिक शब्द लगते हैं, लेकिन यह अपने में परिपूरक है। ठीक उसी प्रकार पाप–पुण्य शुभ–अशुभ, अच्छा–बुरा, जितने भी ये विशेषण हैं, यदि इनके सम्पूर्ण आध्यात्मिक दृष्टिकोण का विश्लेषण किया जाये, तो इनका स्वयं का महातम खो जाता है। विषय थोड़ा जटिल है लेकिन अपने में रोचक है।

कोई भी बुद्धिजीवी जिज्ञासु मानव इस अर्ध सत्य एवं पूर्ण सत्य के विश्लेषण एवं विचार द्वारा कई प्रकार की भ्रान्तियों से तुरंत मुक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए चोरी, बलात्कार, डकैती, स्मगलिंग इत्यादि, ऐसे असंख्य दंडनीय अपराध हैं। एक व्यक्ति जिसने चोरी की है तो उसने अपराध किया है व पाप किया है। लेकिन इस अर्ध सत्य की पूर्णता पर जब हम विंहगम दृष्टि डालते हैं, तो जिसके यहाँ चोरी हुई है, क्या इस कृत्य की पूर्णता में उसको नहीं समेटा जा सकता। शायद, जिसके यहाँ चोरी होती है, सबसे आवश्यक परम बिन्दु वह व्यक्ति ही है। इसी प्रकार अन्य घटनायें होती हैं। सड़क की दुर्घटनायें होती हैं। दोषी पकड़ा जाता है। लेकिन जो इस दुर्घटना का शिकार हुआ, वह भी तो इस प्रकरण का अंग है। मैं यहाँ किसी अपराध को ढक नहीं रहा हूँ, लेकिन इसके सम्पूर्ण पहलू पर आप सबका खुला दृष्टिकोण चाहता हूँ।

एक ठग है और एक ठगा गया है। अगर ठगा जाने वाला व्यक्ति न होता तो ठग किसे ठगता? इसी प्रकार यदि व्यवहारिक दृष्टिकोण से देखें, तो किसी चिकित्सक का अस्तित्व तब तक है, जब तक उसके पास रोगी आते हैं। सिनेमा घर का अस्तित्व तब तक है, जब तक उसमें सिनेमा देखने वाले आते हैं, इत्यादि–इत्यादि।

यद्यपि भक्तों के बिना भगवान का अस्तित्व है, लेकिन भगवान के बिना उसके भक्तों का अस्तित्व नहीं है, फिर भी किसी शायर ने बहुत सुन्दर लिखा है कि मुझे माफ कर खुदाया, मैं तुझे खुदा बनाया– ***तुझे कौन पूछता था, मेरी बन्दगी से पहले।***

तो उस सच्चिदानन्द ठोस–घन–शिला ईश्वर को जब कोई उपासक मान्यता देता है, पूजन, अर्चन, ध्यान व उसका मनन करता है, तो उस परम सत्ता का वह किसी न किसी नामरूप में प्रगटीकरण अवश्य कर लेता है। इस प्रकार यदि हम पूर्ण सत्य पर दृष्टि डालें, तो हमें ज्ञात होगा, कि पुण्य–पाप का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। यह एक प्रकरण हैं। यदि हम स्वयं को परोपकारी समझते हैं, तो उसके लिए एक ऐसा व्यक्ति चाहिए जिसका उपकार करने की आवश्यकता हो, अन्यथा उसको परोपकारी कहा ही नहीं जा सकता। इसी प्रकार यदि कोई दुख है, तो उसके लिए भी कई ऐसे व्यक्ति चाहिए, जो उसके द्वारा भयभीत है, त्रसित है विक्षिप्त अथवा तनावित हैं। जब तक वे व्यक्ति नहीं होंगे, तब तक हम किसी व्यक्ति को दुष्ट प्रवृत्ति का मानव घोषित ही नहीं कर सकते। अब प्रश्न यह उठता है कि इस सम्पूर्ण प्रकरण का आधार क्या है?

गहन विषय है। मैं आपकी सम्पूर्ण एकाग्रता चाहूँगा। एक व्यक्ति चोरी करने के लिए घर से निकलता है और असंख्य घरों में से किसी एक घर में प्रवेश करता है। अमुक–अमुक वस्तुओं की अथवा धन की चोरी कर लेता है। पकड़ा जाता है या नहीं भी पकड़ा जाता है। यदि हम सत्य बुद्धि से इस प्रकरण का विश्लेषण करें, कि जिसके घर चोरी हुई उसी के घर चोरी क्यों हुई? साधारणत. लोग ऐसे विषयों पर अपना विलेषण देते हैं, कि हो सकता है जिसके घर में चोरी हुई उसने कोई अवैध या बुरा धन कमाया होगा, जो कि एक चोर के माध्यम से चला गया। यदि इस कथन को सत्य भी मान लें तो चोर ने एक विशिष्ट व्यक्ति का अवैध अथवा बुरा धन साफ कर दिया। उस धन से उस व्यक्ति को निवृत कर दिया। आध्यात्मिक दृष्टि से यदि इस प्रकरण का चिंतन करें तो हमें ऐसा आभास होगा, कि चोर ने चोरी करके मानो कोई भला कार्य ही किया होगा। किसी का प्रदूषित, अवैध अथवा बुरा धन साफ करना तो कोई पाप नहीं हो सकता, लेकिन चोरी को फिर भी पाप कहा गया है। सामाजिक अनुशासन एवं मर्यादा के लिए कुछ नियम बना दिये गये हैं और एक नियम उसमें यह भी है, कि चोरी करना एक

दण्डनीय अपराध है।

इसी प्रकार यदि हम एक अन्य उदाहरण लें, किसी खूनी ने किसी विशेष व्यक्ति का खून कर दिया, उसको मौत के घाट उतार दिया, तो यहाँ पर वह खून करने वाला व्यक्ति अपराधी घोषित हो जाता है और उसको न्यायपालिका उचित दंड देती है। लेकिन प्रश्न यह उठता है, कि जो व्यक्ति मारा गया, उसने अथवा उसके परिवार वालों ने क्या अपराध किया होगा? क्या पाप किया होगा कि वह इस कृत्य के भोक्ता बने? सत्य पूछिये तो इस कर्म के विचार या सिद्धांत पर शास्त्र ने भी हाथ खड़े कर दिये हैं। 'कर्मणानाम् अगाधो गति' कह कर। एक सांड सड़क पर खड़ा है और कुछ लोग वहाँ से समूह में गुजर रहे हैं। उनमें से एक व्यक्ति पर वह सांड प्रहार करता है। तो क्या हम यहाँ पर सांड को दोषी मानते हैं? जिसको चोट लगी उसी के बारे में कहते हैं कि शायद इसने कोई पाप कर्म किया होगा, जिसके प्रतिफल में सांड ने इस पर अपने सीघा से प्रहार किया। दूसरी ओर एक अबोध बालक ऊपर से पत्थर गिराता है और वह नीचे चलने वाले एक व्यक्ति के सिर पर लगता है, जिसे गम्भीर चोट लग जाती है। तो इस स्थिति में भी हम उस बालक को दोषी नहीं ठहराते। बल्कि जो चोट खाया हुआ व्यक्ति है, उसको ही दुर्भाग्यशाली मान लेते हैं। एक अन्य उदाहरण में जब बड़े–बड़े चक्रवात आते हैं, समुद्री तूफान आते हैं, भूकम्प आते हैं, अति भारी ओला वृष्टि और महामारी होती है, सूखा पड़ता है, तो इन अति दुर्दान्त और भयानक प्रकृतिक आपदाओं में क्या समस्त लोग पीड़ित होते हैं 'कुछ लोग पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। तो क्या हम उन तूफानों को, उन चक्रवातों को, उन भूकम्पों को दोषी ठहराते है? क्या हम उस ईश्वरीय सत्ता को दोषी ठहराते हैं जिसके एक इशारे मात्र, से कई महाशक्तियाँ प्रहार करती हैं। यहाँ भी हम इन शक्तियों द्वारा प्रभावित जो लोग होते हैं उनको ही दुर्भाग्यशाली और कभी–कभी पापी मान लेते हैं कि अवश्य ही इन्होंने कभी न कभी, किसी न किसी जन्म में कोई घोर अपराध किया होगा जिसके फलस्वरूप ये प्राकृतिक आपदाओं से दंडित हुए। तो यह बहुत तार्किक विषय है कि एक अबोध बालक, एक पशु अथवा कोई प्रकृतिक आपदा जब किसी मानव अथवा मानव समूह को कष्ट पहुँचाती है, नष्ट करती है, तो हम उन मानवों को ही पापी घोषित कर देते हैं। परन्तु जब कोई सबोध व्यक्ति

किसी व्यक्ति पर प्रहार करता है या उसको कोई कष्ट पहुँचाता है, तो हम उस कष्ट पहुँचाने वाले व्यक्ति को पापी घोषित कर देते हैं। यहाँ पूर्ण सत्य क्या है? गुरु महाराज ने लिखा है–

न कोई बैरी नहीं बेगाना, सकल संग हमको बनिआई।

मानव शिशु जब इस धरा पर पदार्पित होता है, तो वह अपने पूर्व जन्म के सम्पूर्ण संस्कार और लेखा–जोखा लेकर आता है। उसी के अनुसार उसका जीवन प्रकरण चलता है। उसके संगी–साथी, उसकी भौतिक प्राप्तियाँ उसी के अनुसार होती हैं। जब कोई ऐसे कृत्य करता है जिससे किसी का लाभ एवं हित होता है, तो उस मानव को हम पुण्यात्मा घोषित कर देते हैं। जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ कि **एक तो स्वतः भाव से परोपकारी होना और दूसरा परोपकारी बनने का ठेका लेना,** ये दोनों अलग–अलग पहलू हैं। सहजभाव से जब हमारे सम्मुख कोई ऐसी परिस्थिति आती है और अकस्मात् हमारे द्वारा कोई ऐसा कार्य हो जाता है, कि जिस पर हमको विचार भी नहीं करना पड़ता तो हम स्वतः ही पुण्य के भागी हो जाते हैं और उस कार्य से किसी व्यक्ति का हित हो जाता है। यहाँ पर यह जानना अति आवश्यक है कि वह व्यक्ति भी इस प्रकार का एक बहुत विशिष्ट क्या है? यदि वह व्यक्ति न होता तो हम किसका हित करते? किसको लाभ पहुँचाते? जब सहज स्वभाव से ऐसे प्रकरण होते हैं तो इनका प्रारम्भ, मध्य और अत भी आनन्दमय ही होता है। **जब अपने भौतिक बल से कोई व्यक्ति अपने आपको परोपकारी मान लेता है, तो समझ लीजिए उसी के परिवार में कोई न कोई ऐसा व्यक्ति अवश्य उत्पन्न हो जायेगा जिसके सम्मुख वह परोपकार करने वाला व्यक्ति स्वयं को असंतुष्ट एवं हीन पायेगा।** यह एक वेदान्तिक सत्य है जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ।

ईश्वर जिस परिस्थिति में, जिस देश अथवा काल में जो भी हम से करवाते हैं और उस कृत्य के होने के बाद यदि हम अपनी मानसिक स्थिति का विश्लेषण करें, तो यदि हमारी मानसिक स्थिति उस कृत्य के बाद आनन्दमयी है, एक अज्ञात आनन्द से परिपूरित है, हर्षित है, उल्लसित है तो समझिये वह कार्य ईश्वरीय था। दूसरे प्रकरण में, जहाँ हम तथाकथित परोपकार के कार्य करते हैं, अपने एक विशेष समाज के लिए, धर्म

के लिए, अथवा विशेष राजनीतिक लाभ के लिए तो वे कार्य किसी विशेष स्वार्थपूर्ण उपलब्धि के कारणवश होते हैं। उन कार्यों के पीछे कुछ व्यक्तियों को प्रभावित करने का या आकर्षित करने का एक अर्थ होता है। ऐसे कार्यों को परोपकारी कार्य कहा ही नहीं जा सकता। यहाँ परोपकार का कोई महातम नहीं होता। जब ईश्वरीय इच्छा से एवं स्वतः भाव से परोपकारी कार्य हो जाएँ और जिस व्यक्ति के लिए हों, वह न तो हमसे विशेषतया परिचित हो और न उस कार्य के पीछे हमारी कोई आकांक्षा अथवा महत्वाकांक्षा हो, तो उनका फल आनन्दमय होता है।

संस्कारों वश और जन्म–जन्मांतरों की भ्रान्तियों वश हम मात्र प्रत्येक जीवन के भौतिक पहलू के अर्धसत्य का ही विवेचन करते आये हैं। किसी को पुण्यी किसी को पापी व किसी को धर्मात्मा घोषित कर देते हैं। यहाँ तक कि किसी को राक्षस या प्रेत श्रेणी की संज्ञा देने में भी हम नहीं चूकते। यह बहुत विचारणीय दृष्टिकोण है, कि किसी भी कृत्य के लिए दो पहलू चाहिये। **एक, उस कर्म को करने वाला और दूसरा, उस कर्म को भुगतने वाला।** यद्यपि कर्म का कर्ता भी भोक्ता हो सकता है। लेकिन जब कोई कर्म किसी व्यक्ति विशेष अथवा समुदाय विशेष के लिए किया जाता है, तो वह व्यक्ति अथवा समुदाय उस कर्म का भोक्ता होता है। यहाँ कर्त्ता और भोक्ता दोनों पूर्ण सत्य है। मात्र, परोपकारी घोषित करना अर्धसत्य है। मात्र, चोर या डकैत इत्यादि घोषित करना अर्धसत्य है। जिसके यही चोरी हुई, जिसके यहाँ डकैती इत्यादि पड़ी तो पूर्ण सत्य पर यदि अपनी दृष्टि डालें तो पुण्य–पाप का महातम समाप्त हो जायेगा और हमारी दृष्टि बहुत निर्मल एव उदात्त हो जायेगी।। विशिष्ट प्रभु कृपा से हो सकता है हमको परम सत्य की झलक भी मिल जाये ।

यहाँ जीवन की वास्तविकता पर गंभीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। जब हम किसी को ह्रदय से याद करते हैं तो अक्सर देखने व सुनने में आता है कि वह व्यक्ति कुछ ही क्षणों में हमारे सामने प्रगट हो जाता है या उसकी कोई सूचना आ जाती है। इस कथन के पीछे क्या रहस्य है? **रहस्य यह है कि याद करने वाला व्यक्ति और जिसकी याद की जाती है वह व्यक्ति एक ही प्रकरण के दो पहलू है।** यदि कोई याद करने वाला चाहिए तो जिसको वह याद करे वह भी चाहिए। यदि कोई

चोर है तो वह व्यक्ति भी चाहिए जिसके यहाँ चोरी हुई। तो इन उदाहरणों को मैं और विस्तृत नहीं करूंगा मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि हम जन्म–जन्मान्तरों से मात्र अर्धसत्य का ही अनुगमन कर रहे हैं। किसी कर्म के यदि सम्पूर्ण पहलू, सम्पूर्ण प्रकरण दृष्टि डालें, तो हमें पूर्ण सत्य का आभास हो जाता है और पाप–पुण्य की संशय अपना अस्तित्व तुरन्त खो देती है। मात्र, एक ईश्वरीय इच्छा एवं लीला सी लगती है, कि प्रभु ने जितनी असंख्य महावृत्तियों और विधाओं के मानव या पशु–पक्षी संसार मे उत्पन्न किये हैं, उनके खेलने के लिए भी वैसी ही और उनके विपरीत वृत्तियाँ बनाई हैं। तो इस प्रकरण के मात्र एक पहलू को हम नहीं ले सकते। हमें सम्पूर्ण प्रकरण को लेना होगा। इसी प्रकार जब एक उपासक अपने इष्ट के ध्यान में व चिंतन में बैठता है, तो उस **उपासक को एक उपास्य चाहिए जिसकी वह वास्तविक उपासना कर सके। यदि उपासक होगा और उपास्य नहीं होगा तो उपासना का कोई अस्तित्व नहीं होगा।**

जब मानव की बुद्धि का विकास होता है, सर्व प्रथम वह अपने आपकी पहचान करना है। तो इस बुद्धि के विकास के साथ दुर्भाग्यवश **वह विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों का बोझा सा अपने सिर पर लाद लेता है।** इस बात पर कभी भी विचार नहीं करता कि जो कार्य उसके बिना भी हो सकता है और जो कार्य उसके बिना और अच्छा हो सकता है, भला वह उसका कर्त्तव्य कैसे हो सकता है? हम समस्त मानव अंधकारमय जगत में भ्रमित होकर भ्रमण कर रहे हैं। जन्म–जन्मान्तरों से कर्मों, कर्त्तव्यों के तथाकथित बोझों, से हम लदे हुए हैं। **जब कोई महापुरुष अथवा संत हमारे जीवन में आता है, तो हमें ज्ञात होता है कि न हमारा कोई कर्त्तव्य है न कोई कर्म। तो हम पुरुषार्थ की ओर अग्रसर होते हैं। हमारी चेतन सत्ता का दूसरा नाम है पुरुष।** मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा? यह पुरुष और प्रकृति का समन्वय क्या है? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? मैं बार–बार जन्म क्यों लेता हूँ? इन असंख्य प्रश्नों की श्रृंखलायें हमारे मानव मस्तिष्क एवं मन को झकझोरने लगती हैं, व्याकुल कर देती हैं तो उस समय विशिष्ट इष्ट कृपा से समस्त प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है और मानव मन ईश्वरीय मन में समाहित हो जाता है।

किसी घटना अथवा दुर्घटना का कौन कारण बना और कौन भोक्ता बना, उस सम्पूर्ण लीला के पीछे अर्थ क्या है? उसका कर्त्ता कौन है? उस सम्पूर्ण लीला का इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक एवं इच्छाफल कौन है? अन्ततः हमको विचार द्वारा यही ज्ञान होगा कि समस्त महाब्रह्माण्ड मे एक–एक क्रिया उस महाशक्ति ईश्वर की इच्छा से ही हो सकती है और यदि उसकी इच्छा नहीं होगी, तो वह क्रिया अर्थहीन होगी। उसका रसास्वादन कोई भी नहीं कर सकता। न निमित्त और न उसका कर्त्ता यह एक नितान्त सत्य है। यदि हम संसार में आनन्दपूर्वक जीना चाहते हैं, तो हमें इस अर्धसत्य को छोड़कर पूर्णसत्य को अपनाना अति आवश्यक है। **सत्य सदा पूर्ण होता है परिपूर्ण।** जैसा कि मैं ईश्वर की परिभाषा भी मैं दे चुका हूँ, कि शास्त्रकारों ने **ईश्वरीय सत्ता को सच्चिदानन्द कहा है। वह सत्य है, चेतन है एवं आनन्द है।** तो भला अपनी उत्कृष्ट बुद्धि द्वारा विचारिये, कि इस महाब्रह्माण्ड के निर्माणकर्त्ता, पालनकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता को यह तीनों प्रकरणों का अवलम्बन क्यों लेना पड़ा ? यदि वह निर्माण ही करता रहता तो उन असंख्य निर्मित या उत्पादित जीव–जन्तुओं और मानवों का पालन करने वाला कौन होता? और यदि पालन करने वाला होता और संहार करने वाला न होता तो आज एक पृथ्वी नहीं कई पृथ्वियाँ केवल मानवों व जीव–जन्तुओं से ही लद जातीं। उसी ईश्वर ने दो संरचनायें की, **पुरुष एवं प्रकृति की, जिनके समन्वय से सम्पूर्ण जगत के यह तीनों पहलू निर्माण, पालन एवं संहार क्रमश होते रहते है, सदियों–सदियों से होते रहे हैं एवं होते भी रहेंगे।**

यदि हम बहुत विचारपूर्वक इस सत्य का चिंतन करें और वेदान्त दर्शन का आधार मानकर इसका विश्लेषण करें, तो हम पायेंगे कि किसी भी मानव की भीतरी वृत्तियों ही उसके बाह्य जगत में प्रकट होती हैं। **जब कोई भी घटना अथवा दुर्घटना किसी भी व्यक्ति पर घटती है तो उसका एक विशेष वातावरण उस व्यक्ति के भीतर एक वृत्ति के रूप में पहले ही उभर आता है और उचिततम् समय पाकर वही वृत्ति उसके बाह्य जगत में प्रगट हो जाती है।** उस दुर्घटना का कारण कोई अन्य व्यक्ति, जीव–जन्तु अथवा कोई दैवीय आपदा भी बन जाती है। जब कोई व्यक्ति और विशेषकर कोई बुद्धिमान व्यक्ति उसका कारण बनता है, तो हम उस

घटना के अनुसार उस व्यक्ति को पापी अथवा पुण्यी घोषित कर देते हैं। अर्ध सत्य यही है। लेकिन जब कोई पशु–पक्षी अन्य जीव अथवा कोई दैवीय कारण उस घटना के घटित होने में बनता है, तो हम उस कष्ट के भोक्ता को ही पुण्यी अथवा पापी घोषित करते हैं। बड़ा विचारणीय विषय है। तो किसी भी पुण्य अथवा पाप के लिए एक पूर्ण प्रकरण होता है। जिसमें किसी एक व्यक्ति को ही उसका कारण अथवा कर्त्ता नहीं माना जा सकता।

जब मानव शिशु उत्पन्न होता है, उस समय उसे कुछ भी होश नहीं होता, न स्वयं का, न जगत का। वह मात्र अपने में एक मानव देह होता है जिसमें किसी भी शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक शक्ति इत्यादि का विकास उस समय नहीं होता। शिशु के उत्पन्न होते ही माता–पिता उसे मान्यता दे देते हैं और अपनी मान्यता, मोह तथा सामर्थ्य के अनुसार अपने शिशु का लालन–पालन, देख–रेख, इत्यादि सब करते हैं। एक विशेष समय पर आकर जब वह मानव शिशु होश सभालता है तो वह किसी को माँ अथवा किसी को पिता मान लेता है। धीरे–धीरे वह भाई–बहनों को व अन्य सगे–सम्बन्धियों को मान्यता दे देता है। लेकिन **इन समस्त मान्यताओं से पहले वह स्वयं अपने को मान्यता देता है। अपने नाम और रूप की पहचान करता है उससे परिचित होता है और अपनी मान्यता के आधार पर ही वो अन्य सांसारिक मान्यतायें देता है।** धीरे–धीरे बुद्धि और विकसित होती है तो अपने माता–पिता की सम्पदा, धन, उनके पद अन्य शक्तियों और प्राप्तियों पर उसको अपना अधिकार सा लगने लगता है। उन प्राप्तियों को वह अपनी प्राप्ति समझने लगता है। यदि इस सम्पूर्ण प्रकरण पर अति गहन दृष्टि डालें, तो यहाँ पर शिशु को जब अपना होश नहीं था तो उसका कोई भी नहीं था, लेकिन माता–पिता ने उसको उसी समय मान्यता दे दी थी। बुद्धि इतनी विकसित नहीं थी, अतः वह अपने माता–पिता की किसी भी धन–सम्पदा पर या किसी भी अन्य प्राप्ति पर अपना अधिकार घोषित नहीं करता है और न ही मानता है जब तक वह स्वयं को मान्यता नहीं दे देता।

इसके विपरीत **जब मानव ईश्वर को मान्यता देता है, उसके साथ एक सम्बन्ध बना लेता है और उस सम्बन्ध में वह विचरने लगता है,** तो उसी

समय उसको करोड़ों ब्रह्माण्डनायक उस ईश्वरीय सत्ता की शक्ति व सम्पदा पर अपना अधिकार नहीं लगता और न ही वह उस पर अपना अधिकार कर सकता है। लेकिन एक समय पर, किसी–किसी दुर्लभ, परम उकष्ट महामानव को जब ईश्वर मान्यता दे देते है तो उसके पश्चात् एक विलक्षण परिवर्तन आ जाता है उसके जीवन में, उसकी मानसिकता में एव उसकी बौद्धिक सोच में। यद्यपि देह वही रहती है लेकिन भीतर से वह सम्पूर्णतया बदल जाता है। उसकी इस करोड़ों ब्रह्माण्डों के ऐश्वर्य, भोग एव समस्त सम्पदा पर अपना अधिकार सा लगने लगता है। न केवल अधिकार सा, बल्कि उसका अधिकार हो जाता है। वह चाहे तो दिगम्बर शंकर की तरह या एक फकीर की तरह अपना जीवन बिताये। लेकिन इस फकीरी मे भी उसकी एक बादशाही होती है, शहनशाही होती है। वह चाहे तो महाराज जनक की तरह ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिताये। यह समस्त उसकी मानसिकता पर निर्भर करता है। तो यहाँ पूर्ण सत्य क्या है? **दोनों तरफ से मान्यता का होना।** एक तरफ की मान्यता, जैसा कि शिशु के उदाहरण में हमने आपके सम्मुख रखा, मात्र माता–पिता की उस शिशु में मान्यता ही काफी नहीं है। जब तक शिशु भी उनको मान्यता नहीं देता, तब तक उसकी ओर से उन्हें कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलेगी। **इसी प्रकार जब कोई भक्त या कोई उपासक उस महाईश्वरीय सत्ता को मान्यता दे देता है, तो तब तक उसका प्रभाव नहीं होता, जब तक वह महाईश्वरीय सत्ता उस उपासक को न मान ले।** उस ईश्वरीय सत्ता द्वारा किसी को मान्यता देने के पीछे क्या दर्शन है? इसका कोई भी विश्लेषण नहीं कर सकता, कोई भी जान नहीं सकता और न ही जान सका है। कहीं–कहीं, किसी–किसी पर जब उसकी नज़रें इनायत होती हैं, तो उस व्यक्ति में क्या परिवर्तन आते हैं उसकी अनुभूति मात्र वह व्यक्ति ही कर सकता है, दूसरा कोई नहीं।

इस समस्त प्रकरण का **अर्थ यही है कि सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड के समस्त मानव अर्धसत्य में ही विचर रहें हैं। हम स्वयं को एक व्यक्तिगत इकाई मानकर जगत में चलते हैं, जबकि ऐसा सत्य नहीं है।** जब भौतिक सम्बन्धों में भी हम किसी सम्बन्ध में अपने आपको मानते हैं, तो उस का परिपूरक सम्बन्ध होना भी आवश्यक है। उस परिपूरक सम्बन्ध के बिना हमारे किसी सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं है।

जब हम किसी विशेष पद, सम्पदा अथवा धन इत्यादि की तुलना करते हैं, तो उसके लिए भी किसी अन्य व्यक्ति के पद अथवा सम्पदा का होना आवश्यक है। लेकिन उस सच्चिदानन्द ईश्वर की तीनों विशिष्ट विधाओं सत्य, चेतन एव आनन्द की कोई परिपूरक विधा ही नहीं है ।

आनन्द की परिपूरक विधा आनन्द ही है, सत्य की सत्य और चेतन की चेतन ही है। परम आध्यात्मिक स्थिति में जब मानव अपनी चेतना का अनुभव करता है, तो यद्यपि कथन में और वर्णन मे वह किसी से स्वयं की तुलना कर सके, लेकिन सागर की नाईं वह अनुभूति में अतुलनीय होता है अथाह होता है व असीम होता है। एक नदी की दूसरी नदी से, एक कुएँ की दूसरे कुएँ से व एक तालाब की दूसरे तालाब से तुलना की जा सकती है पर सागर अतुलनीय है, ईश्वर की नाईं। जब बुद्धि, देह व मानसिकता ईश्वरीय हो जाती है, तो उस मानव के जीवन का हर पहलू व हर विधा अतुलनीय हो जाती है। यह एक परम सत्य है अर्थात् **यदि अर्धसत्य से उठकर हम कोई विश्लेषण करना चाहते हैं, तो वह है पूर्ण सत्य।** पूर्ण सत्य स्वयं में विश्लेषित नहीं हो सकता। तो मानव जीवन की जितनी भी विधायें हैं सुख, दुख, जन्म, मृत्यु, पाप, पुण्य, हानि, लाभ, यश, अपयश इत्यादि, ये समस्त अर्ध सत्य में ही विश्लेषित हो सकती है। यदि और गहनता से विचार किया जाए, तो अर्ध सत्य का जो विलेषण है, वह भी अपने में अर्ध सत्य ही है। पुण्य, पाप का विश्लेषण भी अर्धसत्य में होता है और **जहाँ पर कोई भी प्रक्रिया विश्लेषण से अतीत हो जाती है, तो समझिये वही पूर्ण सत्य का पदार्पण हो जाता है।**

जैसे किसी महा उपासक के बारे में कहा गया है कि ज**ो ईश्वर के समीप बैठता है उपासक कहलाता है।** उपासक की मुख्य पहचान क्या है, कि **ईश्वर के छः दिव्य गुण जिनका मैं कई बार वर्णन कर चुका हूँ अति सौन्दर्यवान, बलवान, ज्ञानवान, ख्यातिवान, ऐश्वर्यवान एव त्यागवान,** उन समस्त गुणों का कुछ न कुछ अंश उस उपासक में यदि वह वास्तविक उपासक है तो आना ही चाहिए। जिसके साथ उठना–बैठना हो, उस व्यक्ति के गुण अथवा अवगुण थोड़े बहुत उसके पास बैठने वाले में आ जाते हैं। यहाँ पूर्ण सत्य क्या है? कि **जिस समय उपासक एवं**

उपास्य एक हो जाते हैं उस समय उनमें कोई भेद नहीं रहता। तो इन सद्‌गुणों का बहाव किस तरफ होता है यह जानना भी आवश्यक है। जब दो व्यक्ति आपसी संगत में हैं तो जो व्यक्ति अधिक शक्तिशाली होता है, उसके गुणों अथवा अवगुणों का बहाव दूसरे की ओर होता है। **उपासना में जब उपासक स्वयं को शून्य मानकर चलता है, भसम मानकर चलता है व अपना सम्पूर्ण अस्तित्व खोकर प्रभु के समीप बैठता है तो उस विशिष्ट भाव में एक विशेष ढलान उत्पन्न हो जाती है और इष्ट के गुण उपासक की ओर बहने लगते हैं। वह तद्‌मय हो जाता है। ऐसी स्थिति में जब वह इष्टमय हो जाता है, तो उपासक और उपास्य में कोई भेद नहीं रहता। यह पूर्ण सत्य है।** जहाँ भेद है, जहाँ तुलना है और जहाँ कारण कोई अन्य है, वहाँ समस्त प्रकरण अर्धसत्य है। उपासना की दृष्टि से भी हम अर्ध सत्य एवं पूर्ण सत्य का विशलेषण एवं गहन चिंतन कर सकते हैं। युद्ध के मैदान में एक पक्ष जीतता है और एक हारता है, तो पूर्ण सत्य यहाँ पर यही है कि जीतने और हारने वाले उस समस्त प्रकरण को एक इकाई मानकर चलते हैं। यदि मात्र, एक ही पक्ष लिया जाये तो जीत–हार का क्या महातम है? यदि पूर्ण स्थिति पर विचार किया जाये, तो उसमें जीत और हार सापेक्षिक है। यदि हार न होती, तो जीत का भी कोई महातम न होता। ऐसी स्थिति पर विचार करने से हमको वह युद्ध मात्र, लीला लगती है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि हार, जीत, जीवन, मरण इत्यादि जितने भी सापेक्षिक शब्द इस सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में प्रयोग होते हैं मानव के गुणों, सदगुणों आदि के विश्लेषण के लिए वह सम्पूर्ण, अर्ध सत्य से ही वर्णित किये जा सकते हैं। पूर्ण सत्य में एक लीला का दिग्दर्शन होता है। यहाँ तक कि अन्ततः उपास्य एवं उपासक भी एक हो जाते हैं। जब तक उपासक अपनी अलग पहचान रखता है, तब तक उसका वर्णन मात्र अर्ध सत्य में ही हो सकता है और जिस समय वह अपने इष्ट को सम्मुख रख कर अपना वर्णन करता है, तो वह पूर्ण सत्य है और उस स्थिति में उसका वर्णन होना या विश्लेषण होना असम्भव है।

तो इस परम सत्य का उपासना की दृष्टि में किस प्रकार लाभ ले सकते हैं? जब तक मानव स्वयं को ईश्वर से विमुख होकर देखेगा, तब तक वह उपासक की कोटि में

ही नहीं आ सकता। जब स्वयं को उपासक समझता है, तो उसके साथ उपास्य की अज्ञात रूप में स्वयं ही प्रतिष्ठा हो जाती है। जब तक उपास्य नहीं होगा तो कोई उपासक हो ही नहीं सकता। जब हम स्वयं को उपासक घोषित करते हैं या किसी को उपासक कहते हैं, तो समझिए उसका उपास्य भी उसके साथ ही जुड़ा हुआ है। यद्यपि उपास्य स्वयं में उपासक के बिना अपना अस्तित्व रखता है, लेकिन उपासक का अस्तित्व बिना उपास्य के हो ही नहीं सकता। जब हम स्वयं को मित्र अथवा शत्रु घोषित करते हैं, तो हम किसके मित्र अथवा शत्रु हैं, उसका हमारे साथ अज्ञात अथवा ज्ञात रूप में ही समन्वित होना व जुड़ा होना ही पूर्ण सत्य है। तो इन समस्त उदाहरणों का आपके सम्मुख स्पष्टीकरण इसलिए किया है, कि जब भी हम विचार बुद्धि द्वारा किसी भी प्रकरण के पूर्ण सत्य पर अपनी विंहगम दृष्टि डालते हैं, तो वह मात्र एक लीला बनकर आनन्द में हमारे सामने प्रकट हो जाती है। उसकी समस्त बुराईयाँ अथवा अच्छाईयों अपना महातम खो देती है। यही सम्पूर्ण सत्य है ।

।। जय जय श्री राम ।।

चेतनता एवं गुणात्मक जीवन

आज आपके सम्मुख जो विषय प्रस्तुत करने जा रहा हूँ, उसका नाम है **चेतनता एवं गुणात्मक जीवन**। अति विचारणीय विषय है। ईश्वर ने इस संसार महा नाट्यशाला का बहुत चतुरता एवं आनन्द से निर्माण किया है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश एवं अग्नि इन पाँच महाभूतों द्वारा निर्मित यह संसार महानाट्शाला जिसमें विस्तृत अथाह आकाश, असंख्य नक्षत्र एवं तारागण, असंख्य जीव–जन्तु, महासागर, विभिन्न प्रकार की अति सुन्दर पर्वत श्रृंखलाएँ, असंख्य वनस्पतियाँ एवं मानव देह अपने में एक बहुत बड़ा चमत्कार है। इस संसार महानाट्यशाला में घटित होने वाले प्रत्येक नाटक का पूर्ण निर्देशन उस सच्चिदानन्द ईश्वर के हाथ में है। प्रतिक्षण एव प्रतिपल परिवर्तन, प्रकृति के विभिन्न स्वरूप, कभी उमड़ते–घुमड़ते मेघों का आकाश में छाना व गर्जना, कभी बूँदा–बाँदी, कभी वर्षा, कभी अति ओला–वृष्टि और न जाने कितने स्वरूप। कितने दृश्य प्रतिक्षण मानव के नेत्रों के सामने दिग्दर्शित होते रहते हैं। यूँ तो सबसे ज्यादा चेतनता का स्तर उसने मानव देह को दिया है और यदि हम विचार दृष्टि से देखें तो 84 लाख योनियों का वर्णन जो शास्त्र ने किया है, यह एक ही मानव की चेतना के विभिन्न स्तर है। असंख्य जीव–जन्तु, पेड़–पौधे और अन्य जितनी भी ईश्वर द्वारा निर्मित इस महानाटय्शाला में सामग्री है, वे सभी भिन्न–भिन्न चेतना के स्तरों से परिपूरित हैं। 84 लाख चेतना के विभिन्न स्तर तो मात्र, मानव के भीतर ही हैं। कहने को तो यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश जड़–बुद्धि वाले मानव को जड़ ही नज़र आते हैं, लेकिन सत्य यह है कि यह सबसे अधिक चेतन हैं। कारण, कि इन पाँचों का सम्पूर्ण नियंत्रण उस ईश्वरीय महासत्ता के स्वयं के हाथों से होता है।

मानव को ईश्वर ने विलक्षण बुद्धि दी। साधारण जीवन जीने के लिए बुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती, आप मेरी बात से सहमत होंगे। जंगलों में विचरने वाले असंख्य जीव–जन्तु, सागर में विचरने वाली असंख्य मछलियाँ एवं आकाश में विचरने वाले नभचर, इन समस्त जीव–जन्तुओं का पालन व जन्म–मृत्यु मात्र, उस ईश्वरीय सत्ता द्वारा स्वयं होता है। अनुकूलन प्रकृति का एक बहुत बड़ा चमत्कारिक कृत्य है कि प्रत्येक जीव को उसके अनुसार भोजन एवं अनुकूल वातावरण अवश्य मिलता है। तो

मानव को जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ ईश्वर ने बुद्धि शायद इसलिए दी होगी कि वह अपनी बुद्धि की सम्पूर्ण क्षमता द्वारा ईश्वर के कृत्यों की सराहना कर सके और सराहना करते–करते अपने उस सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर को पहचान पाएँ। लेकिन दुर्भाग्य! अति उत्कृष्ट बुद्धि पाने के पश्चात् मानव स्वयं को स्वयंभू ईश्वर समझ लेता है।

ईश्वर जब भी इन महाब्रह्माण्डों में कुछ कृत्य करना चाहते हैं, तो वह अपने पाँच प्रतिनिधियों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव आकाश द्वारा ही करते हैं। महाप्रलय ईश्वर द्वारा इन पाँच महाभूतों में से एक अथवा अनेक द्वारा होती है। पृथ्वी प्रलय–भूकम्प द्वारा, वायु प्रलय, अग्नि प्रलय, जल प्रलय और आकाश प्रलय। आकाश से इतने विस्तृत और विशाल उल्का पिंड गिरते हैं, जो सम्पूर्ण पृथ्वी को कुछ क्षण में पाताल तक धसां दें। तो ईश्वर इन पाँच महाभूतों द्वारा ही, जब चाहते हैं, प्रलय ला देते हैं। उस महाकालेश्वर की शक्ति को आज तक कोई नहीं जान सका। यहाँ तक कि उसकी शरण में जो मानव पहुँच जाता है, ऐसे महामानव को पहचानने के लिए भी श्रद्धायुक्त हृदय की आवश्यकता होती है, न कि बुद्धि की।

प्रश्न यह उठता है कि इस पृथ्वी पर पैदा होने के बाद हम अति सुखपूर्वक एवं आनन्दमय जीवन कैसे बिताये? उसके लिए सर्वप्रथम और सर्वोत्तम उपाय जो मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ, वह है उस महासत्ता की चेतनता को नमन। कोई भी अहम् बुद्धि का मानव जब अपनी बुद्धि के अज्ञान से, अपने धन और बल की क्षमता से किसी वस्तु की प्राप्ति करता है और उसकी गुणात्मकता को वह मात्र अपने धन से ही तोलता है, तो यह मान लीजिए, कि वह कभी भी उसका भोग नहीं कर सकता। यह बहुत विचारणीय है। हम कोई सम्पदा, कोई भवन, कोई वाहन, कोई भूमि या किसी विशेष पद के अधिकारी भले ही हो जायें, जब तक हम इन समस्त उपलब्धियों को मात्र जड़ ही समझेंगे, तो यह शत–प्रतिशत मानकर चलिये, कि हमको उनका भोग कभी भी नहीं मिल सकता और आनन्दमय भोग का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति में प्रत्येक वस्तु का पूजन और उसका महातम वर्णित है, पृथ्वी–पूजन, आकाश–पूजन, जल–पूजन, विभिन्न सरिताओं का पूजन, समुद्र–पूजन, वायु–पूजन, अग्नि–पूजन इत्यादि। यहाँ तक कि जो महासंकल्प किये

जाते हैं, विवाह–शादी के बंधन होते हैं, वह महाग्नि के सम्मुख किये जाते हैं। किसी को वरदान अथवा श्राप दिये जाते हैं, तो हाथ में जल ग्रहण करके किये जाते हैं। क्योंकि जल भी ईश्वर का प्रतिनिधि है। सूर्य भगवान की ओर हाथ करके संकल्प किये जाते हैं, क्योंकि वह अग्नि का प्रतीक है। आकाश की ओर भी हाथ उठाकर संकल्प किये जाते हैं। यह सभी रहस्य अपने में ईश्वरीय है, इनको समझने के लिए मानविक बुद्धि अक्षम है।

ईश्वर निराकार है एवं साकार भी है। साकार और निराकार का मैं कई बार वर्णन कर चुका हूँ। यह एक व्यक्तिगत धारणा है। ईश्वर को आप नाम–रूप में, अनाम में, अरूप में, साकार में, निराकार में किसी भी प्रकार मान लीजिए। सत्य यह है कि ईश्वर का स्वयं का आभास तो विशेष ईश्वरीय कृपा से ही होता है। यदि आप नित्य उसका सानिध्य चाहते हैं, सामीप्य चाहते हैं, तो आपको ईश्वर के पाँचों महाभूतों का सान्निध्य होना अति आवश्यक है।

मानव महाकाया, जो कि लगभग 9 महीने 7 दिन में माता के गर्भ में मात्र एक कोशिका से उत्पन्न होती है एवं सम्पूर्ण स्वचलित और वातानुकूलित है, अपने में ईश्वरीय चमत्कार है। इसका निर्माण पाँच महाभूतों से ही होता है। जब हम किसी शव को अग्नि में भेंट करते हैं, उसके बाद जल का तत्व जल में, वायु का वायु में, अग्नि का अग्नि में, आकाश का आकाश में समाहित हो जाता है और रह जाती है मात्र, थोड़ी सी **'भस्मी'**, जो कि पृथ्वी तत्व है। उस पृथ्वी तत्व को हम किसी पवित्र नदी में बहा देते हैं। बहुत सारगर्भित है यह सम्पूर्ण प्रकरण। पाँच महाभूतों से निर्मित इस देह का यदि हम पूर्ण आनन्दमय भोग करना चाहते हैं, तो इन पाँच महाभूतों का पूजन, इनके प्रति श्रद्धा और विश्वास हमारे लिए उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार हमारी ईश्वर में अकाट्य निष्ठा एवं अखंड विश्वास। शायद हमारे मनीषियों तथा ऋषियों द्वारा किसी भी पूजन के समय धूप, अगरबत्ती, घी का दिया, शंखनाद, घंटनाद, जल, कुम्भ एवं कलश का महातम बहुत विस्तृत रूप से वर्णित किया है। एक प्रकार से वास्तव में यह पाँचों महाभूत अथवा इनमें से कोई एक या दो, हमारे पूजन, ध्यान व समाधि के समय उपस्थित होकर हमारी साधना के साक्षी होते हैं। तो वे साधना ईश्वरीय हो जाती है।

यदि हम आरोग्यतापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, तो हमारे लिए आवश्यक

है कि हम नित–प्रतिदिन इन पाँचों ईश्वरीय प्रतिनिधियों को सम्पूर्ण श्रद्धापूर्वक सम्मान दें और कम से कम इनको प्रदूषित न करें। इसके अतिरिक्त आज के भौतिकतावादी जगत में प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक सेवा को मात्र अपने धन के बल से ही तोला जाता है। श्रद्धा से जो कार्य होता है, वह धन से नहीं हो सकता। धन से श्रद्धा को नहीं खरीदा जा सकता। गुरुकुल में पहले जब विद्यार्थी पढ़ते थे, तो आपस में कोई भेदभाव नहीं होता था। पेड़ों के नीचे बैठ कर एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। एक ही प्रकार के सब वस्त्र पहनते थे। एक ही प्रकार का सब भोजन करते थे और एक ही प्रकार के स्थान पर रहते थे, चाहे वह राजा का लड़का हो या रंक का। उसके पीछे एक उद्देश्य था कि इस शिक्षा को लेने से पहले उसमें श्रद्धा हो। यदि श्रद्धा नहीं होगी तो शिक्षा निरर्थक है।

आज बड़े–बड़े विश्वविद्यालयों से युवा लोग मात्र एक ही लक्ष्य को लेकर अपने कर्म क्षेत्र मे उतरते हैं, कि धन का अधिकतम् अर्जन किसी प्रकार से हो। इस लक्ष्य को लेकर जब कोई बुद्धिजीवी उतरता है, तो विनाश हो जाता है। समाज में कोलाहल हो जाता है। वह स्वयं में तो भ्रष्ट हो ही जाता है, साथ ही समाज को भी भ्रष्ट कर देता है। यह मैं अपने अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ। यह एक नग्न सत्य है। आज किसी भी अधिक पढ़े–लिखे व्यक्ति के पास बैठकर तनाव हो जाता है। वह स्वयं इतने उलझे हुए हैं, कि कहीं भी उनमें, आध्यात्मिकता का कोई पुट ही नहीं है। यह दुर्भाग्य है। मैं अक्सर विद्यार्थियों को सुझाव देता हूँ, कि जब पढ़ने बैठो, तो उस पढ़ाई को ईश्वरीय बना दो, कि 'हे प्रभु! शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षाफल मात्र आप ही हैं।' जब परीक्षा देने बैठो, तो अपनी परीक्षा भी ईश्वरीय बना दीजिये कि, 'हे प्रभु। आप ही परीक्षा, परीक्षक, परीक्षार्थी एव परीक्षाफल हैं।' जब आपके हृदय में कोई इच्छा उठे, उस इच्छा के सम्पूर्ण प्रकरण को ईश्वरीय बना दीजिये कि, 'हे प्रभु। इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक एव इच्छाफल आप ही हैं।' तो इन दैवीय प्रकरणों से आपका सम्पूर्ण जीवन आनन्दमय बन जायेगा। वह शिक्षा भले ही कहने को भौतिक हो परन्तु इस प्रार्थना से वह दैवीय हो जायेगी, आध्यात्मिक हो जायेगी।

आध्यात्मिक और भौतिक जगत में बहुत थोड़ा लेकिन बहुत बड़ा अन्तर है। जब हम भौतिक सुखों में असन्तुष्ट होकर असीम सन्तोष की प्राप्ति चाहते हैं और अपने

सच्चिदानन्द स्वरूप की ओर प्रेरित होते हैं तब प्रभु कृपा, सद्गुरु कृपा एवं आत्मकृपा से हम भौतिक जगत की सीमाओं को लाँघकर आध्यात्मिक जगत में प्रवेश कर जाते हैं। उस समय हमारा समस्त भौतिक जगत आध्यात्मिक हो जाता है। यहाँ पर मैं विशेष बल इस बात पर देना चाहूँगा कि आध्यात्मिक जगत में आरम्भ, मध्य या अन्त नाम की कोई संज्ञा नहीं है। आध्यात्मिक जगत में मात्र प्रवेश है। यह असीम है, अथाह है। इसमें प्रवेश के बाद मानव देह आनन्दमय हो जाती है, उसके श्वास आनन्दमय हो जाते हैं, उसका सामीप्य अथवा उसका सान्निध्य आनन्दमय हो जाता है। देह की तीनों अवस्थायें, बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था उसके लिए कोई महातम नहीं रखती। ऐसे दैवीय पुरुष अजर होते हैं। जन्म और मृत्यु नामक कोई संज्ञा उनको उद्वेलित नहीं करती। खोना, पाना, जन्म, मृत्यु, आबादी, बर्बादी व मिलना, बिछुड़ना इत्यादि सब इनके लिए एक समान सा ही होता है। अर्थ यह है कि जब आपकी सम्पूर्ण मानविक सृष्टि, सम्पूर्ण भौतिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियाँ आपको दिव्यता की ओर प्रेरित करती है तो आपका सम्पूर्ण जीवन उसी समय आनन्दमय हो जाता है। इसे कहा है **दिव्य जीवन**। **दिव्य जीवन एक मानसिक स्थिति है। जिस समय आपके मानविक मन का सम्पूर्ण समर्पण ईश्वरीय मन में हो जायेगा उसी समय आपका सम्पूर्ण भौतिक जगत आध्यात्मिक एवं दिव्य हो जायेगा। सारे इन्द्रियों के सुख उसी समय आनन्दमय हो जायेंगे। इन्द्रियाँ आनन्दमय हो जायेंगी**, जिसका मैं अभी वर्णन कर चुका हूँ।

उस परम ईश्वरीय सत्ता ने मानव को एक विशेष चेतनता का स्तर दिया है और उस विशिष्ट चेतना के स्तर को लिए हुए प्रत्येक मानव उत्पन्न होता है और अन्ततः सम्पूर्ण जीवन बिता कर उसी स्तर पर उसकी मृत्यु हो जाती है। सम्पूर्ण जीवन काल में मानव शरीर बदलता रहता है। कभी वह गर्भावस्था में होता है, कभी बाल्यावस्था में, कभी प्रौढ़ावस्था में, कभी वृद्धावस्था में और अन्ततः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। लेकिन इन अवस्थाओं में होते हुए भी उसकी मानसिक चेतनता का स्तर अक्सर एक सा ही रहता है। कभी–कभी कुछ महामानव जब अपनी मानव बुद्धि और मानव मन को ईश्वरीय बुद्धि और ईश्वरीय मन में समर्पित कर देते हैं, तो उनकी चेतनता असंख्य गुणा तुरन्त बढ़

जाती है, जिसकी गणना नहीं की जा सकती है और न ही उसका वर्णन किया जा सकता है। भौतिक जगत में जब मानव अपनी स्वयं की बुद्धि और मन को ही अपने सम्पूर्ण जीवन का आधार बिन्दु मान कर चलता है, कि मैं ही इस सृष्टि का निर्माणकर्त्ता, पालनकर्त्ता एवं संहारकर्ता हूँ, मैं ही ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश हूँ, तो वहाँ उसकी सीमित शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियाँ उसको अति सीमित क्षणभंगुर जगत में ले जाती हैं। यदि मानव अपनी उपलब्धियों को, जो उसे स्वतः अथवा किन्हीं विशेष प्रकरणों एव परिस्थितियों वश मिलती हैं, दस विशेष भागों में विभाजित करें और उनको अंक दें, उदाहरण के लिए 10 प्रतिशत अंक स्वास्थ्य को, 10 प्रतिशत धन–सम्पदा को, 10 प्रतिशत पूर्वजों से अर्जित नाम, यश एवं सम्पदा को, 10 प्रतिशत अपने जीवन में कुछ न कुछ प्राप्त की हुई विशेष कलाओं को, 10 प्रतिशत अंक अनुवांशिक कलाओं को, जिनको लेकर कोई मानव उत्पन्न होता है जैसे नृत्य कला, संगीत कला इत्यादि, 10 प्रतिशत अक दें उत्कृष्ट बुद्धि को, उसी प्रकार 10 प्रतिशत किसी के शैक्षणिक स्तर और पद को, सांसारिक प्रतिष्ठा को और अन्य कई प्रकार की भौतिक उपलब्धियों को। यदि हम इतने ही प्रतिशत अंक मानकर चलें, तो हम पायेंगे कि जन्म से लेकर मृत्यु तक इन विभिन्न उपलब्धियों के अंक कम या ज्यादा तो होते रहते हैं अन्ततः उनका योगफल समान होता है।

उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति की संतान अथवा परिवार उसके लिए यदि कष्टदायी है, किसी रोगवश, दोषवश या किसी अन्य कारणवश और उस कष्ट के निवारण का यदि कोई हेतु नहीं है तो परिवार के भाग के अंकों की भरपाई करने के लिए वह जीवन की किसी अन्य भौतिक विधा के क्षेत्र में अपनी सारी क्षमतायें झोंक देता है। जैसे कि कोई उच्च–शिक्षा के लिए, कोई धन कमाने के लिए व कोई अपना भौतिक नाम कमाने के लिए। जिसके फलस्वरूप वह एक साधारण से असाधारण सा लगने लगता है। तो यह कोई विशेष प्रशंसा का विषय नहीं है, वास्तव में इसको यदि हम मानसिक असंतुलन की स्थिति कह दें, तो उसमें कोई अतिशयोक्ति अथवा त्रुटि नहीं होगी। जिन व्यक्तियों में ऐसी क्षमतायें नहीं होती, भौतिक, दैहिक, शारीरिक या मानसिक कि वह अपने जीवन की कमी को पूरा कर पाये तो ऐसे व्यक्ति अक्सर निराशा के रोगी बन जाते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि समानता के इस गहन दर्शन को अपना जीवन अति उत्कृष्ट एव आनन्दमय बनाने के लिए किस प्रकार प्रयोग करें? भौतिक जगत का यह एक परम सत्य है कि कोई मानव किसी भी उपलब्धि को जब अप्रत्याशित रूप से प्राप्त करने के लिए कार्य करता है, तो समझ लीजिए कि वह जीवन की किसी दुखद घटना को या किसी अन्य उपलब्धि की कमी को छुपा रहा है। **वह प्राप्ति, जिसमें मानव तथाकथित बहुत विकसित हो जाता है उसके मानसिक असंतुलन का द्योतक है।** ऐसा न कर पाने से वह निराशा की स्थिति में चला जाता है। दोनों ही मानसिक रोग है। कुछ महामानव अपनी बुद्धि और देह की सीमित शक्तियों की सीमायें लाँघ जाते हैं, जिसका मात्र एक उपाय है कि वह उस परम पिता परमात्मा की असीम शक्तियों के सम्मुख अपनी अति सीमित शक्तियों को समर्पित कर देते हैं। जब ईश्वर कृपा हो जाती है और मानव की बुद्धि का और मानव मन का और उसके चरणों में समर्पण हो जाता है, तब यह समानता का कानून लागू नहीं होता। इसको मैं बार–बार इसलिए वर्णन कर रहा हूँ ताकि यह बहुत आवश्यक विषय आपके मनन में आ जाना चाहिए।

जीवन अपने में क्षणभंगुर है। देह अपने में क्षणभंगुर है व जीवन की समस्त भौतिक उपलब्धियाँ भी क्षणभंगुर है। जैसे ही भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत में परिणत होता है, तो सम्पूर्ण भौतिक जगत आध्यात्मिक हो जाता है और आध्यात्मिक होते ही एक असीम संतुष्टि का आभास तुरन्त होने लगता है। ऐसे महापुरुषों के जीवन में और भी शान्ति व स्थिरता आ जाती है। भौतिक समानता किसी एक चेतनता के स्तर पर अलग–अलग होती है। असंख्य मानव हैं, असंख्य जीव–जन्तु हैं और असंख्य ही इस चेतनता के स्तर हैं। जब कभी सत्संग द्वारा जीव अपने स्वरूप की ओर मुड़ता है, तो ईश्वर इसको स्वयं आगे बढ़कर अपनी शरण मे ले लेते हैं। ऐसे में उसको एक परम और असीम शान्ति की अनुभूति होती है, मानो उसके लिए इस विश्व में कोई भी कर्त्तव्य शेष न हो। वह आनन्द के आध्यात्मिक सागर में हिलोरें लेने लगता है। उसके हृदय में एक विशेष शान्ति होती है। इस विषय को और इस परम सत्य को अपने हृदय में मानकर चलना और इसका नित्याध्यासन करना, मनन व चिंतन करना जीवन को

आनन्दमय बनाने के लिए परमावश्यक है। जब हम हवन, यज्ञ, ईश्वरीय चिंतन, जाप इत्यादि करते हैं तो प्रभु ने जो भी पदार्थ हम दिये हैं, उनसे एक विशिष्ट मानसिक संतुष्टि का आभास होता है–

गोधन, गजधन, बाजधन और रत्नधन खान
'जब आये संतोष धन, सब धन धूलि समान'।

संतोष की प्राप्ति भी एक योगिक क्रिया है, एक मानसिक तप है। मानसिक तप का जीवनकाल में जितना महातम है, वह शारीरिक तप का नहीं है। भले ही कितना घोर शारीरिक तप किया जाए, अन्ततः उसका परिणाम, उसके मानसिक तप में परिवर्तित होने के बाद ही मिलता है। यह एक नितांत सत्य है। हम जो भी दैहिक क्रिया करते हैं, जब तक उस क्रिया का आकलन हमारे मानस पर नहीं पड़ जाता, तब तक उसका कोई महातम नहीं है। जप, तप, यज्ञ, हवन एव विभिन्न प्रकार के अन्य कार्य जो भी मानव अपने जीवन के दौरान करता है, ईश्वर के प्रति उनको समर्पित कर देना चाहिए क्योंकि बिना ईश्वर की इच्छा व शक्ति से इस संसार का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। जीवन की विशिष्ट घटनायें स्वतः ही घटती हैं। उनका कारण भी स्वतः ही बनता है और उन घटनाओं को घटने के लिए जो पदार्थ चाहिए, वे भी कहीं न कहीं से स्वयं ही मिल जाते हैं। जब हम इस स्वतः भाव को अपने हृदय में मान लेते हैं, तो जीवन अति सुखद हो जाता है। आज सारा विश्व दौड़ रहा है। उस दौड़ के सकारात्मक होने का तो कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता। निरर्थकता के साथ वह नकारात्मक ही है। मानव दो पग आगे चलता है और कुछ समय के बाद वह देखता है कि वह आठ पग पीछे चला गया। तो न केवल एक जीवन काल में बल्कि जन्म–जन्मान्तरों, में यह सिलसिला चलता रहता है। मानव की दौड़ समाप्त नहीं होती।

इस छोटे से जीवन का न कोई आदि निश्चित है न अंत, न इसकी प्रक्रियाएँ और न ही इसके आयाम निश्चित हैं। कुछ भी निश्चित नहीं है। एक ही निश्चितता है वह यह, कि यदि जन्म हुआ है तो मृत्यु अवश्य होगी। कब, क्यों जन्म होता है, कब और क्यों मृत्यु होती है, जीवन में कुछ खोना, कुछ किसी से मिलना और बिछुड़ना, कभी हँसना, कभी रोना, कभी सफलता, कभी असफलता, कभी कुछ लाभ, कभी कुछ हानि और न

जाने कितने विस्तृत आयाम और कितनी विविधताएँ प्रत्येक मानव के जीवन में आती हैं। इन सबका कारण क्या है? यह समस्त कहानी शुरू कहाँ से होती है और अंत कहाँ होता है? इस सम्पूर्ण प्रकरण का अर्थ क्या है? मानव की आसक्तियाँ जो जीवन के अंत समय में रह जाती हैं। उन्हीं आसक्तियों से मंडित या प्रदूषित मानव मन, पुनः–पुनः अन्य देह धारण करता रहता है। किसी जीवनकाल में कोई विशेष उपलब्धि अधिक और अधिकतम हो जाती है और किसी अन्य जन्म में वही उपलब्धि नगन्य सी और अति न्यून होती है। इस सबके पीछे क्या कारण है? मानव की वृत्तियाँ किस प्रकार अपना कार्य करती हैं, यह अपने में अति विचारणीय एव चमत्कारिक विषय है। बहुत गहन रहस्य है। हम देखते हैं कि प्रत्येक मानव कुछ न कुछ बुद्धि से, शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों से सदा युक्त रहता है। उनको बढ़ाना भी चाहता है और उसके लिए प्रयत्न भी करता है। सफलता अथवा असफलता कई बातों पर निर्भर करती है, जैसे कि उसे अपने इष्ट पर अगाध एवं अटूट विश्वास है कि नहीं है? उसको अपने पूर्वजों एवं माता–पिता में श्रद्धा है कि नहीं है। उसकी नीयत एव उसकी वृत्तियाँ क्या है जिनको वह पैदा होते ही अपने साथ लेकर जन्मा है या जो जीवनकाल में विकसित अथवा समाप्त हुई हैं, वे वृत्तियाँ कौन सी है? इन सबके पीछे क्या कारण है, जिसको जानना व वर्णन करना अति कठिन है।

अक्सर मानव अपनी बुद्धि के विकास के साथ ही एक भयंकर भूल कर बैठता है और दुर्भाग्यवश उसके लिए समाज एवं परिवार के लोग प्रेरित भी करते हैं और वह भूल होती है, स्वयं को ब्रह्मा, विष्णु और महेश समझना। होश सभालते ही प्रत्येक मानव शिशु के मस्तिष्क में व उसकी बुद्धि में यह संस्कार डाल दिए जाते हैं एवं उसे प्रेरित कर दिया जाता है कि तुमको अपना जीवन स्वयं चलाना है और उसके लिए अपने आपको तैयार करना है। कितना बड़ा दुर्भाग्य है? कितनी बड़ी भूल है कि इस उत्कृष्ट मानव काया जो माँ के गर्भ में एक कोशिका से लगभग नौ महीने सात दिन में बनकर तैयार हो जाती है, जो कि अपने आप में महाचमत्कार है, उसकी रक्षा के लिए और उसके अन्य विकास के लिए मानव बुद्धि स्वयं को जिम्मेदार मानना शुरू कर देती है। 'मुझे इस देह का पालन–पोषण करना है। जो कुछ भी भौतिक उपलब्धियाँ हैं, उसका कारण मैं हूँ।' दुर्भाग्यवश, मानव ऐसा मान लेता है और अपनी सर्म्पूण शारीरिक, बौद्धिक और

आध्यात्मिक शक्तियों को झोंक देता है अपने भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए। जबकि उसका कोई अर्थ नहीं होता। यदि हम विचार करें तो किसी भी मानव को जितना बाहुबल मिला है, वह मात्र उसी बाहुबल के अन्तर्गत ही कार्य कर सकता है। उस बाहुबल से अधिक कार्य नहीं कर सकता। इसी प्रकार किसी के पास एक निश्चित धनबल होता है, एक निश्चित पदवी होती है तथा एक निश्चित संतान एवं सम्पदा होती है। यह समस्त भौतिक उपलब्धियाँ मात्र तब तक भौतिक होती हैं, जब तक मानव इनका प्राप्तकर्ता स्वयं को समझने लगता है। भौतिक जगत का अर्थ है जब हम अपना जगत स्वयं निर्मित कर लेते हैं। हम समझने लगते हैं कि शायद जीवन को हम ही चला रहे हैं अन्यथा यह जीवन, यह संसार, यह समाज एवं यह परिवार चल ही नहीं सकता। जब मानव की ऐसी अवधारणा दुर्भाग्यवश व अहम्‌वश बन जाती है, तो अन्ततः यह उसके विध्वंस और विनाश का कारण बन जाती हैं। हमारी भौतिक शक्तियों की एक सुनिश्चित सीमा, किसी विशेष देश, काल व परिस्थिति के अनुसार होती है। हम जो भी कोई भौतिक उपलब्धि प्राप्त करना चाहते हैं, कोई अन्य कार्य या योजना बनाना चाहते हैं, वह हम अपनी मानव देह की विभिन्न शक्तियों के अनुसार ही कर सकते हैं और एक सीमा के बाद और नहीं कर सकते, ऐसा भौतिक नियम है।

मान लीजिए हमें और प्राप्ति की इच्छा है, उसके लिए कुछ दैवीय कार्य जैसे यज्ञ, हवन, दान, पुण्य इत्यादि कुछ उत्कृष्ट लोग करते हैं। उनके पीछे उनका कोई आत्मचिंतन का भाव नहीं होता। मात्र, अपनी भौतिक उपलब्धियों व शक्तियों को अधिक से अधिक बढ़ाने के लिए दैवीय वरदान पाना या उनके भोग के लिए अपने आपको तैयार करना ही उनका एक मात्र अर्थ होता है। लेकिन जब यह अन्य प्रयत्नों द्वारा और अधिक भी पा लेता है तो चूंकि इसकी चेतन सत्ता में उस शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा तो होती है, लेकिन उसको भोगने की क्षमता नहीं होती, तो उन वस्तुओं की प्राप्ति के बाद सुख लेने की बजाय यह भयभीत हो जाता है, चिन्तित हो जाता है व त्रसित हो जाता है। इसकी शान्ति समाप्त हो जाती है। अक्सर, मानव उसका कारण नहीं जान पाता और यह दौड़ पीछे की ओर भी होती है, जो कि जीवन को न केवल निरर्थक बल्कि नकारात्मक बना देती है। आज के जगत में आपको कई मानव नकारात्मक वृत्तियों के

मिलेंगे। हर कार्य में उनकी बुद्धि नकारात्मकता को लिए हुए हस्तक्षेप करने लगती है कि यह कार्य हो नहीं सकता। और–और प्राप्ति के लिए लालायित एवं महत्वाकांक्षाओं व आसक्तियों को लिए हुए मानव जीवन समाप्त हो जाता है, तो भी इसका मानस पटल खाली नहीं होता और विभिन्न आसक्तियाँ जो मानस पटल पर अंकित रहती हैं, उसका पुनर्जन्म करवाने मे सहायक होती हैं और कारण भी बनती है। इस प्रकार एक जन्म के बाद दूसरी, दूसरे के बाद तीसरी एक बहुत बड़ी श्रृंखला जन्म–जन्मान्तरों की बनती रहती है। यह जन्म लेता रहता है और मरता रहता है। पुनः जन्म लेता है, पुनः मरता है। इस प्रकार इसकी दौड़–धूप न केवल नकारात्मक है, बल्कि निरर्थक भी है। महादुर्भाग्यवश, यह स्वयं को बहुत व्यस्त घोषित कर देता है, जबकि इस व्यस्तता का कोई अर्थ नहीं होता।

अपनी समस्त क्षमताओं व शक्तियों को हम अत्याधिक कैसे बढ़ा सकते हैं? इष्ट की मान्यता, उसके साथ सान्निध्यता और अन्ततः ईश्वर द्वारा आपकी मान्यता, जो तब प्राप्त होती है जब आपकी भक्ति या उपासना परिपक्व हो जाती है। तब जितनी भी उपलब्ध वस्तुएँ एवं सुख–सुविधाएँ हैं, हम उनका आनन्दपूर्वक भोग ले सकते हैं अन्यथा यह समस्त वस्तुएँ हमें प्राप्त तो होंगी, लेकिन वे स्वयं हमें भोग लेंगी।

।। जय जय श्री राम।।

कर्म से पुरुषार्थ तक

एक अति विशिष्ट विषय प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिसको हम **मन** अथवा **माया** कहते हैं। इसका वास्तविक स्वरूप क्या है? मानविक मन ईश्वरीय मन से भिन्न किस प्रकार है? इस मानविक मन की संरचना कैसे होती है? संरचना के बाद मानव किस प्रकार इसमें उलझ जाता है?

उस सर्वशक्तिमान ईश्वर का स्वरूप एवं उसकी परिभाषा क्या है? जो **सच्चिदानन्द है, सत् चेतन एव आनन्द का अविरल, अकाट्य एवं सुन्दरतम, विहंगम एवं उत्कृष्टतम् संगम है, उसका नाम है ईश्वर**। वह सच्चिदानन्द ईश्वर, ठोस–घन–शिला है, जो कि सारे महाब्रह्माण्ड एवं कोटि–कोटि महाब्रह्माण्डों का निर्माता, पालनकर्त्ता एवं संहारकर्त्ता है। ब्रह्मा बन कर वह सारी सृष्टि का निर्माण करता है, विष्णु बन कर उसका पालन करता है एवं शंकर बन कर उसका संहार भी कल्याण के लिए करता है। भला विचारिये, कि ऐसे ईश्वर से निर्मित सृष्टि जिसमें उसकी सबसे चमत्कारिक संरचना, मानव देह है, तो मानव जीवन में कष्टों की, दुखों की, रोगों एवं दोषों की, निर्धनता की, पाप, पुण्य एवं जीवन, मरण की उत्पत्ति कैसे हुई? क्या सूर्य ने कभी अंधकार को देखा होगा? असंभव! संसार में कष्ट, दुख, रोग व दोष भरे हुए हैं, ये भी सत्य है और ईश्वर का स्वरूप भी सत्य है। सच्चिदानन्द की संतान भी सच्चिदानन्द होनी चाहिए। लेकिन उसके इस आनन्दमय स्वरूप को खोने में मानव से क्या त्रुटि हुई? उस त्रुटि को दूर करना और फलस्वरूप सब प्रकार के कष्टों से, भयों व त्रासों से मुक्ति पाना ही मानवाधिकार है।

भला विचारिये, कि पृथ्वी पर क्या कोई ऐसा कर्तव्य या कोई ऐसा कर्म है, जो हमारे बिना नहीं हो सकता? यदि कोई कर्म हमारे बिना भी हो सकता है तो वह हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकता है? तो मेरा क्या कार्य है? मैं किसलिए पृथ्वी पर लाया गया हूँ? इसका निर्णय अवश्य होना चाहिए और इस अधिकार को पाने के लिए कोई कर्म नहीं **पुरुषार्थ** चाहिए। पुरुषार्थ का यदि संधिविच्छेद करें तो पुरुषार्थ–पुरुष + अर्थ। **पुरुष का अर्थ है मेरी चेतन सत्ता।** मेरी चेतनता का अर्थ क्या है? मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ मै? कहाँ जाना है मुझको? मैं यहाँ किसलिए लाया गया हूँ? यदि वे सब कर्म जो मैं कर रहा

हूँ, मेरे बिना भी हो सकते हैं, तो फिर मेरा वास्तविक कर्म क्या है? कौन बतायेगा मुझे वे वास्तविक कर्म? जब यह जिज्ञासायें मानव ह्रदय को विदीर्ण कर देती है और जुनून की स्थिति में पहुँच जाती है, तो वहाँ से प्रेरणा मिलती है, पुरुषार्थ की। कर्म और पुरुषार्थ दोनों में एक स्पष्ट अन्तर है और उस अन्तर का ज्ञान होना अति आवश्यक है। कर्म क्या है? जो कुछ भी हम करते हैं एवं जो हो रहा है, वे कर्म हैं और यदि हम किसी कर्म के विभिन्न भागों का विश्लेषण करें, तो हम पायेंगे कि कर्म के कई अंग हैं। जैसे कि प्रथम अंग है **कारण**। बिना कारण के कोई कर्म नहीं होता और प्रत्येक कर्म के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। दूसरा–**कर्त्ता**। कर्म का कोई न कोई कर्त्ता भी अवश्य होना चाहिए। मैं अमुक–अमुक कर्म का कर्ता हूँ, जहाँ पर यह भाव आता है, तो उसका भोक्ता भी मुझे बनना पड़ेगा। तो **कर्म का पहला अंग है कारण, दूसरा कर्त्ता और तीसरा अंग है उस कर्म के प्रारम्भ होने से पहले का भाव।** कर्म के आरम्भ करने से पहले कर्त्ता का जो मानसिक भाव होता है, यह बहुत आवश्यक अंग है। क्योंकि यह भाव ही उस कर्म की गुणात्मकता को निर्धारित करता है। **चौथा** अंग है **स्वयं कर्म** और पाँचवा है **वृत्ति**। जब कोई कर्म समाप्त हो जाता है, तो उसके बाद एक वृत्ति बनती है और वह **वृत्ति ही किसी मानव के जीवन का निर्धारण करती है।** किसी भी मानव के जीवन का स्वरूप उसकी वृत्तियाँ ही निर्धारित करती हैं। उन वृत्तियों से बनती है **विधायें**। उन विधाओं से बनती है **अवधारणायें** जिसकी समाप्ति होती है **संस्कारों में। संस्कार स्वभाव बनाते है, और स्वभाव के समूह का नाम है मानवीय मन।** उस मानवीय मन के अनुसार ही वह स्वभाव अन्ततः भाव मे परिवर्तित होते हैं जो आगे आने वाले किसी भी कर्म की गुणात्मकता को पुनः निर्धारित करते हैं।

यह एक सम्पूर्ण चक्र है। किसी भी कर्म का **कारण** और **कर्त्ता** ये अति आवश्यक हैं जिनमें मानव बुद्धि का योग रहता है। अतः कोई भी कर्म शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विभिन्न प्रकार की शक्तियों के योग से होता है और उसका उत्पाद होती है एक वृत्ति, जिसका मैं वर्णन कर चुका हूँ।

हम इस मानविक मन में उत्पन्न विभिन्न संस्कारों वश व विभिन्न स्वभाव वश जन्म–जन्मान्तरों में पुण्य और पाप की तथाकथित गठरी सी लिए हुए दौड़ते रहते हैं।

जन्म लेते है, कुछ न कुछ करते हैं, अन्ततः मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार जन्म दर जन्म चलते रहते हैं। बँध जाते हैं हम अपने तथाकथित कर्तव्यों एवं कर्मों से। वह **बंधन सा** हमारे जीवन की रूप रेखाओं को, पुण्य, पापों को, जन्म, मृत्यु को, लाभ, हानि को और सम्पूर्ण जीवन की गुणात्मकता को एवं आकार, प्रकार को निर्धारित करता है। यद्यपि यह सब कुछ क्रियान्वित ईश्वर इच्छा से और ईश्वर शक्ति से ही होता है। **हम बँधे से हुए हैं।** अपने ही जाल में जकड़े से हुए हैं हम। जन्म–जन्मान्तरों तक इसी प्रकार जकड़े रहते हैं, यह जानते हुए भी, कि जो कुछ भी हम कर रहे हैं, यह हमारे बिना भी हो सकता था।

जैसा कि मैं अपने पिछले प्रवचन में स्पष्ट कर चुका हूँ, कि मानव शिशु जब उत्पन्न होता है उस समय तक जब तक उसकी बुद्धि का विकास नहीं होता, यहाँ तक कि अपने माता–पिता को भी वह मान्यता नहीं देता, तो भी उसकी सब प्रकार से देख–भाल होती है। बुद्धि के विकास के साथ उसके माता–पिता उसमें तथाकथित बंधन के भाव उजागर करने लगते हैं कि, "तुम्हें कुछ बनना है। तुमको अपनी रोज़ी–रोटी की चिन्ता करनी है। अपने जीवन को चलाने के साधन एकत्रित करने हैं।" अन्ततः कोई न कोई कैरियर उसके ऊपर लाद दिया जाता है। कैरियर का अर्थ है ढोने वाला। बँध जाता है वह उस कैरियर के भाव में। उसी के अनुसार उसकी शिक्षा शुरू होती है। युवा होते–होते वह उस कैरियर में बंधा हुआ एक मानव बन कर तैयार हो जाता है। जीवन के अंत तक वह उसी कैरियर से बँधा रहता है। कितना बड़ा दुर्भाग्य है! क्या ईश्वर ने मानव को इस संसार में उसके तथाकथित कैरियर के निर्माण के लिए भेजा था? महादुर्भाग्य है! अपनी बहिर्मुखी यात्रा में ही अपना जीवन समाप्त कर देता है। कभी भी अन्तर्मुख होकर, अपनी उत्कृष्ट ईश्वरीय प्रतिभाओं को, एवं अपने गुणों को निहारने का उसको समय ही नहीं मिलता। अपने कैरियर में ही उलझ जाता है, बँध जाता है।

कभी–कभी कोई जिज्ञासु उत्पन्न होता है जो इस काल चक्र से कूद जाता है। प्रश्न पूछता है अपने इष्ट से कि, 'हे महा प्रभु! तुम मुझे इस पृथ्वी पर क्यों लाये हो? कौन सा ऐसा कार्य है जो मेरे बिना नहीं हो सकता? उस समय उत्पत्ति होती है पुरुषार्थ भाव की। मेरी चेतन सत्ता का अर्थ क्या है? मेरा वह आनन्द कहाँ खो गया है? उसे पाने के लिए जो भी साधना, उपासना और उसके अन्तर्गत जो भी कर्म किये जाते हैं, वे

वास्तविक मानविक कर्म हैं। शायद, प्रभु मानव को यह उत्कृष्ट बुद्धि इसलिए देते हैं कि, 'ऐ मानव तू अपनी बुद्धि से विचार कर कि तुझे मैंने बुद्धि क्यों दी है?' यदि विवेक बुद्धि से यह विचार किया जाये कि मुझे बुद्धि क्यों मिली है? स्वयं से प्रश्न पूछे जायें कि माँ के गर्भ में लगभग नौ महीने के अन्तराल में मुझे यह पूर्णतया स्वचलित, वातानुकूलित, अति उत्कृष्ट एवं चमत्कारिक मानव देह जो प्राप्त होती है, क्या यह मेरे स्वयं का निर्माण है? किसी विशिष्ट स्थान पर, किसी विशिष्ट माता–पिता के अंश से और कोख से मैं क्यों पैदा होता हूँ? इसके पीछे कौन सी शक्ति है? अमुक–अमुक प्रकार की शिक्षा एवं विद्या मैं क्यों ग्रहण करता हूँ? उचिततम् समय पर विवाह होता है। फिर संतान होती है, विभिन्न प्रकार की प्रतिभाओं को लिए हुए। ऐसा सब क्यों होता है और अन्ततः मुझे मरना कब, कहाँ और क्यों है? जब इन समस्त प्रश्नों पर उत्कृष्ट मानव बुद्धि बहुत ईमानदारी से विचार करती है, तो इसका उत्तर मानव के पास नहीं होता है। यदि जीवन की अतीत में घटी हुई विशिष्टतम् घटनाओं पर कभी एकाग्र किया जाए, तो मानव पाता है कि जो–जो घटनायें होश संभालने से लेकर अब तक घटीं, वे सभी उसके मानस पटल पर अंकित है, उन घटनाओं के घटने में मानव बुद्धि की कोई भूमिका नहीं होती। घटनायें घटती हैं। उनके लिए विशेष परिस्थितियों स्वयं निर्मित हो जाती हैं–

'आप न जाई ताहि पे, ताहि तहाँ ले जाये'

वहाँ भी बुद्धि का कोई नियंत्रण नहीं होता। जिसको जो कुछ प्राप्त होना है, वह स्वयं हो जाता है। जो कुछ खोना होता है, वह खो जाता है। वहाँ भी मानव बुद्धि का कोई कार्य नहीं होता। बड़े–बड़े, विशालकाय जीव–जन्तु उस सृष्टि कर्त्ता ने इस भूमण्डल पर, जलमण्डल में एवं आकाशमण्डल में उत्पन्न किये हैं, जिनका पालन–पोषण स्वतः होता है और सब प्रकार की अन्य सुविधाएँ भी उसने दी हैं। जबकि उनकी बुद्धि बहुत कम होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि मानव बुद्धि का अर्थ क्या है? पालन–पोषण, प्रजनन और जीवन–यापन के लिए यदि उत्कृष्ट बुद्धि की आवश्यकता होती तो क्या सभी जीव–जन्तुओं, पशुओं और जलचरों की बुद्धि इतनी तीव्र न होती? मानव बुद्धि की उत्कृष्टता के पीछे कोई रहस्य है, जो मानव को अपनी बुद्धि से ही विचार करना होगा। उस महान सृष्टिकर्त्ता की अद्‌भुत, सुन्दरतम्, विलक्षणतम् व विचित्रतम् सृष्टि, यह

संसार महानाटय्शाला जो पंच महाभूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से निर्मित है और इसमें असंख्य प्रकार की वनस्पतियाँ, महानतम् सागर, विचित्र एवं सुन्दरतम पर्वतश्रृखंलायें, असंख्य जीव–जन्तु, आकाश, अंसख्य तारागण, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र इत्यादि का बहुत चमत्कारिक एवं अदभुत निर्माण है। शायद, इस अद्भुत जगत की सराहना के लिए उस सृष्टिकर्ता ने मानव बुद्धि की संरचना की होगी। जीवन का स्वामी जैसा चाहता है, वैसा ही होता है। उस समय बुद्धि में उसी प्रकार के विचार स्वयं भीतर से ही आ जाते हैं। वैसी परिस्थितियाँ स्वयं ही बन जाती हैं और उन्हीं के अनुसार हम कार्य करते हैं। यदि हम विचार करें, कि वह कार्य हम न भी करते तो उसे कोई और कर लेता। तो हमारा कर्त्तव्य क्या है? सच पूछिये तो जिस समय इस विशिष्ट रहस्य का हमको ज्ञान हो जायेगा, उस समय हमारी समस्त दैहिक, बौद्धिक शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ कई गुणा बढ़ जायेंगी।

हनुमान जी का आपने उदाहरण सुना होगा। माता सीता की खोज के प्रकरण में भगवान राम, हनुमान जी को अपनी अँगूठी देकर सेना की एक टुकड़ी के साथ भेजते हैं। सागर तट पर बैठे सभी विचाराधीन एवं चिंतित हैं, कि सागर कौन पार करेगा? हनुमान जी उदास हैं क्योंकि वह सोच ही नहीं सकते कि वह स्वयं सागर पार कर सकते हैं। जब बड़े–बड़े विशिष्ट योद्धाओं ने सागर पार करने के लिए अपनी असमर्थता प्रकट की तो जामवंत जी, जो बहुत विवेकशील मंत्री हैं, वे हनुमान जी को पहचानते हैं और उनको जाग्रत करते है, कि–

कहहु रीछपति सुनु हनुमाना, का चुप साधि रहेहु बलवाना,

इतना सुनने पर हनुमान जी में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। लेकिन जब वे जामवंत जी के मुखारविन्द से सुनते हैं कि, ***"राम काज लगि तव अवतारा"*** कि, 'हे हनुमान, तुम पृथ्वी पर अवतरित हुए हो भगवान श्री राम के कार्य करने के लिए तो उनको तुरन्त ज्ञान हो जाता है कि मैं पृथ्वी पर क्यों लाया गया हूँ।'

राम काज लगि तव अवतारा, सुनतहि भयउ पर्वताकारा।

वही हनुमान जी, जो कुछ क्षण पहले उदास बैठे थे, नेत्रों में अश्रु भरे हुए, कि सागर कौन पार करेगा? कौन लंका में जायेगा? जब उनको उनके कार्य की याद दिला दी

जाती है तो वह तुरन्त एक विशाल पर्वत की नाईं देह से विस्तृत हो जाते हैं और उनमें अतुलित बल उत्पन्न हो जाता है। वह बार–बार सिंहनाद करते हैं कि, 'मैं रावण को उसकी सेना सहित नष्ट करके, सम्पूर्ण लंका को उखाड़कर यहाँ ले आऊँगा।' इतनी अदम्य शक्ति तुरन्त उनमें उत्पन्न हो जाती है। लेकिन वह अपना विवेक नहीं खोते। धर्मात्मा है, संत हैं हनुमान जी।

जामवंत मैं पूँछहू तोही, उचित सिखावनु दीजहू मोही।

जामवंत उनकी विवेक बुद्धि का प्रतीक हैं। जामवंत जी मैं आपसे पूछता हूँ, आप मुझे उचित सलाह दीजिये ।

एतना करहु तात तुन्ह जाई, सीतहि देखि कहहु सुधि आई।

कि 'हे पुत्र। आप इतना करिये कि सीता जी को देखकर उनकी सुध लीजिये और कुशल पूछकर यही पर लौट आइये।' तो जब मानव की शक्तियाँ बहुत विस्तृत एवं अदम्य हो जाती हैं तो अक्सर अभिमानी लोग अपना विवेक खो देते हैं। जबकि धर्मात्मा लोग ऐसा नहीं करते। ऐसे लोग सफल होते हैं। मानवता के लिए कुछ कर जाते हैं।

उधर रावण भी अथाह शक्तियों का धारणकर्त्ता है लेकिन उसने अपने विवेक रूपी विभीषण को लात मार कर लंका से बाहर निकाल दिया। वहीं से उसके सर्वनाश का प्रारम्भ होता है और अन्तत. समस्त कुल सहित वह स्वयं नष्ट हो जाता है। उसके कुल में कोई दीप जलाने वाला नहीं बचता। बुद्धि के साथ विवेक का होना परमावश्यक है। बुद्धि एक बहुत उत्कृष्ट शक्ति है जो प्रभु ने मानव को दी है। जिसके दुरुयोगवश यह जन्म–मृत्यु, लाभ–हानि, कष्ट, रोग–दोष और न जाने कितनी प्रकार की भयानक स्थितियों में पड़ जाता है और काल चक्र में फँस जाता है। इसलिए ईश्वर ने प्रत्येक मानव को एक विशेष व्यक्तित्व देने की कृपा की है, जिसको कहा है **'दिव्य आपा'**। जिसका वर्णन मैं कई बार कर चुका हूँ।

मानव मन के पाँच प्रमुख विकार हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अंहकार। इन विकारों के वशीभूत होकर जब मानव कोई कर्म करता है, अपने कर्त्ता भाव से और स्वयं उसका कारण भी बन जाता है, तो इन पाँचों विकारों वश उसकी बुद्धि का लोप हो जाता है। उसके विवेक का लोप हो जाता है। इन पाँच महाविकारों के वश मानव बुद्धि वशीभूत

हो जाती है, विवेक नष्ट हो जाता है और इन्द्रियां उच्छश्रृंखल हो जाती हैं। वे अपना नियंत्रण खो देती हैं क्योंकि विवेक बुद्धि से मानव अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करता है। इन्द्रियाँ जब नियंत्रण खो देती हैं तो मानव भयानक अपराध कर बैठता है और दुखों एवं कष्टों से ग्रसित हो जाता है। पाप–पुण्यों में उलझ जाता है। विशिष्ट ईश्वर कृपावश जब कोई विवेक शील मानव इस उलझन से बाहर आने के लिए उसी मन को ईश्वरीय मन में समर्पित कर देता है, कि त्राहिमाम्, हे प्रभु ! मेरी रक्षा करो। मैं अज्ञानवश जन्म–जन्मान्तरों से कष्टों से पीड़ित हूँ। तो प्रभु अपना संकल्प दोहराते हैं कि–

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं, जन्म कोटि अघ नासहि तबही।

उसी समय प्रभु कृपा से मानव का दिव्य व्यक्तित्व प्रगट हो जाता है। ऐसी स्थिति में यही पाँच विकार, पाँच दिव्य उत्प्रेरक बन जाते हैं, जिसका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। पुण्य–पाप की श्रृंखलाओं से मानव तुरन्त छूट जाता है। वह मोक्ष द्वार तक पहुँच जाता है और ईश्वरीय कृपा से वह मुक्त आत्मा एवं जीवनयुक्त बन जाता है। अर्जुन जैसा नर श्रेष्ठ जिसके मित्र हैं साक्षात् नारायण, भगवान श्री कृष्ण जिन्होंने बागडोर संभाली है अर्जुन के रथ की। अर्जुन ने जिसके हाथ में अपना रथ दे दिया है, कि, 'कृष्ण! तुम जैसे चाहो इसे चलाओ।' कृष्ण ने निहत्थे रहने का संकल्प किया है कि, 'मैं सम्पूर्ण युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊंगा।' दूसरी ओर दुर्योधन को दी है चतुरंगनी सेना, जो कृष्ण की शक्ति है, अजेय सेना, विराट सेना। महाभारत का युद्ध आरम्भ होने को है, वहाँ युद्ध का कारण क्या है? छल एवं कपट से, धोखे से, जुए में जीता हुआ कौरवों द्वारा पांडवों का राज्य और उस राज्य की वापसी। कर्त्ताओं में स्वयं कर्ता बना है अर्जुन कि, 'मैं युद्ध करूंगा, अपने गाण्डीव, धनुष का कमाल दिखाऊंगा और भाव है, मानसिक क्रोध व आक्रोश।' कर्म, अर्थात् युद्ध अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है, मात्र उसका रथ दोनों सेनाओं के बीच में कृष्ण द्वारा खड़ा कर दिया गया है। अर्जुन अपनी विवेक बुद्धि द्वारा युद्ध के परिणाम को सोचता है कि मुझे अपने सगे–सम्बन्धियों, अपने गुरुओं, अपने पितामह आदि इन सबको मारकर राज्य मिलेगा। मैं ऐसे राज्य का क्या करूंगा? ऐसी स्थिति मे वह धर्मात्मा, वह विवेकी अर्जुन उदास हो जाता है, निराश हो जाता है और उसका मानविक भाव आक्रोश में परिवर्तित हो जाता है, मोह में। बुद्धि कार्य नहीं करती। मोह

वश होकर वह अपना गाण्डीव, धनुष छोड़कर सिर लटका कर बैठ जाता है कि, 'हे कृष्ण! मुझे यह युद्ध नहीं करना है'। अब इस परिस्थिति को देखिये। नरश्रेष्ठ अर्जुन, कोई साधारण मानव नहीं है। 12 वर्ष की कठिन तपस्या के बाद उसने विभिन्न आयुध भगवान शंकर और इन्द्र से पाये हैं। ऐसा अर्जुन जिसने अपनी सम्पूर्ण बागडोर नारायण को दे दी है। वह मोहवश इसलिए बैठा है, क्योंकि वह युद्ध का कर्त्ता व कारण स्वयं बना हुआ है। मानव जीवन में जब ऐसी स्थिति आती है, तो उस समय मात्र उस मानव के जीवन का अधिग्रहण भगवान स्वयं कर लेते हैं, जिसका मन ईश्वर के मन में समर्पित हो जाता है। भगवान उसकी दयनीय स्थिति को देखकर स्वयं उसको गीता का आदेश देते हैं। यहाँ पर बहुत विचारणीय बात है, कि नरश्रेष्ठ अर्जुन, तपस्वी अर्जुन और ऐसा अर्जुन जिसने अपने रथ की समस्त बागडोर उस निहत्थे कृष्ण को दे दी है, इतना विश्वास है उसे कृष्ण पर, इसलिए भगवान स्वयं उसको गीता का उपदेश देते हैं। अर्जुन गीता के उपदेश को समझ नहीं पा रहा है, मोहवश, क्रोधवश और कई अन्य भावों के वश, लेकिन कृष्ण हार नहीं मानते। अन्ततः उसको दिव्य दृष्टि देते हैं व अपना विराट स्वरूप दिखाते हैं और उसको सत्य का दिग्दर्शन करवा देते हैं। उसका मोह समाप्त हो जाता है और पुनः सशक्त होकर वह गाण्डीव उठा लेता है और युद्ध आरम्भ कर देता है। अन्तत **"विजय श्री"** उसके चरण चूमती है और दूसरी ओर, दुर्योधन के पास भी समस्त शक्ति है तथा भगवान कृष्ण की चतुरंगनी सेना भी। बड़े–बड़े शूरवीर योद्धा व महापराक्रमी वीर उसके साथ हैं, लेकिन उसका मन समर्पित नहीं है। अर्थात् जब तक मानव मन ईश्वरीय मन के सम्मुख समर्पित नहीं हो जाता, तब तक ईश्वर की अपनी शक्तियाँ भी उसकी सहायता नहीं कर सकती। अन्ततः दुर्योधन हार जाता है।

अर्जुन जो अपने को स्वयं महाभारत का एक विशेष युद्धकर्त्ता माने बैठा था, अब प्रभु की दिव्य दृष्टि को पाने के बाद उसके हृदय व मन से कर्त्तापन का भाव समाप्त हो जाता है। एक विशेष उल्लास, हर्ष, उन्माद और आनन्द की स्थिति उसके भीतर उत्पन्न हो जाती है और समस्त युद्ध उस आनन्द में ही संचालित होता है। तो यहाँ बहुत विचारणीय विषय यह है कि जब मानव के हृदय से एवं उसके संस्कारों से कर्त्ताभाव हट जाता है तो सम्पूर्ण जीवन में सम्पादित एवं प्रतिपादित होने वाले समस्त कर्म ईश्वरीय हो

जाते हैं। वह किसी भी कर्म का स्वयं को कर्त्ता नहीं मानता, न वह होता है। तो समस्त प्रकरण आनन्दमय होता है। आनन्द में कर्म आरम्भ होता है, आनन्द में चलता है और अन्ततः आनन्द में ही समाप्त होता है। समस्त जीवन आनन्दमय हो जाता है, ईश्वरमय हो जाता है। मल और विक्षेप उसी समय समाप्त हो जाते हैं, आवरण हट जाता है और उसको स्वयं के सच्चिदानन्द स्वरूप की झलक मिल जाती है। बड़ी आनन्दमय स्थिति होती है।

जहाँ अज्ञानवश कर्त्ताभाव और कारणभाव, इन दोनों भावों का बोझ हम स्वयं अपने ऊपर ढो लेते हैं, वहीं पर हम फँस जाते हैं। उस कर्म का फल भी हमको स्वयं ही भोगना पड़ता है और वह कर्मफल हमारे पाप–पुण्यों का और न जाने किन–किन भावों का कारण बन जाता है। उन कारणों के वश उत्पन्न वासनायें, धारणायें और इच्छायें कभी पूरी नहीं होती। अन्ततः जीवन लीला समाप्त हो जाती है और शेष वासनाएँ पुनः मानव को अगले जन्म में ले जाती हैं। इस प्रकार ये काल चक्र चलता रहता है। जबकि वास्तविकता यह है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पता भी नहीं हिल सकता। सब कुछ उसी की इच्छा से हो रहा है। लेकिन बुद्धि के अहम्‌वश हम यह मान लेते हैं कि विभिन्न कार्यों का कर्त्ता मैं ही हूँ। जब तक हमारा कर्त्तापन समाप्त नहीं होगा, तो वह कर्म एक मानविक कर्म ही होगा। हम जन्म–जन्मान्तरों तक पुण्यों और पापों इत्यादि में उलझे रहेंगे। वही पुण्य–पापों के फल, संस्कार और धारणायें व वृत्तियों अन्ततः मानव मन का निर्माण करती हैं और ये मानव मन ईश्वरीय मन से अपने आपको विलग कर लेता है और भटकता रहता है। यह एक सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्य है। जीवन को आनन्दमय बिताने के लिए जैसा कि मैं "पुरुषार्थ" का वर्णन कर चुका हूँ, पुरुषार्थ का अर्थ साधना एवं उपासना ही है, लेकिन यह किस भाव से हो, यह उससे भी आवश्यक है। कई व्यक्ति बहुत अच्छे साधक एव उपासक होते हैं, लेकिन उसके पीछे उनकी वृति क्या है, यह जानना और भी आवश्यक है। **यदि समस्त साधना, भले ही कष्टमय हो, लेकिन आनन्द युक्त हो तो भी हमें वो अन्तिम और सर्वोच्च फल उस सच्चिदानन्द की वास्तविक अनुभूति में ले जायेगी।** यदि उस साधना और उपासना के साथ आनन्द नहीं है, कुछ और भाव है तो उसके उपलक्ष्य में हमारी भौतिक

शक्तियाँ बढ़ सकती हैं। कुछ साधारण सिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं, लेकिन यह सब मात्र, हमारे भौतिक तथाकथित उत्थान में ही काम आयेंगी। तो ईश्वर की प्राप्ति के लिए यह परम आवश्यक है, कि समस्त पुरुषार्थ जिसमें साधना एवं उपासना आते हैं, उनका प्रारम्भ, मध्य एवं अंत आनन्द में ही हो।

एक सत्य मैं आपके सम्मुख और रखना चाहता हूँ **जिसे मैंने बार–बार प्राप्ति की संज्ञा दी है, अपने स्वरूप की, अपनी सच्चिदानन्द सत्ता की व अपने इष्ट की प्राप्ति, यह वास्तव में 'प्राप्य की प्राप्ति' है।** जिस स्वरूप पर हमारा जन्म सिद्ध अधिकार था और है भी, वह कहीं खोया नहीं था। वह **खो सा** गया था। एक भ्रमित सी स्थिति थी हमारे मानविक मन एवं बुद्धि की। उस भ्रम की उत्पत्ति अज्ञान से हुई। मानव ने इस जगत में आने के बाद स्वयं को कर्ता मान लिया। जो कार्य मानव के अहम् द्वारा सम्पादित होता है, वह कार्य तो होना ही था। ज़रा, अन्तर्दृष्टि डाल कर देखिये, कि जब भी हम स्वयं को कर्मों का कारण एवं कर्त्ता मान लेते हैं, तब हम उनके फल से बँध जाते हैं, जो कि कभी भी आनन्दमय नहीं हो सकता। यदि कर्त्ता, कारण, इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल हम ईश्वर को मान लें, तो निश्चित रूप से उस कर्म का फल आनन्दमय ही होगा। वह कर्म स्वतः होगा, जिस प्रकार कि हमारा जन्म और हमारी मृत्यु स्वतः होती है। **जहाँ तक माया का प्रश्न है, माया तो प्रभु का साया है। उसका अपना तो कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब मानवीय मन ईश्वरीय मन में समर्पित हो जाता है, तो मानवीय माया, तुरन्त, उसी क्षण ईश्वरीय माया में समाहित हो जाती है और वही माया जो उसको कभी भटकाती थी, महतारी बनकर उसकी रक्षा करती है, उसका पालन–पोषण करती है, उसको सब प्रकार के आनन्दों से परिपूरित करती है।**

यदि गहनता से जीवन का अध्ययन करें, तो हम पायेंगे कि हमारे हाथ में कुछ भी तो नहीं है। अगला आने वाला श्वास भी हमारे अपने हाथ में नहीं है। वही महाशक्ति जो हमको धरा पर लेकर आयी है, उसी की इच्छा से जीवन चल रहा है और अन्ततः उसी की इच्छा से जीवन समाप्त भी होगा। विशिष्ट घटनायें उसी की इच्छा से ही घटती है। तदानुसार मानव बुद्धि वैसे ही निर्णय करने लगती है, परिस्थितियाँ वैसी ही बन जाती है

और उसी के अनुसार वे घटनायें घट जाती हैं। जब यह अति स्पष्ट है कि हमारा अगला क्षण, अगला पल, अगला श्वास और हमारे प्राण की एक गति भी हमारी इच्छा से नहीं चल सकती, तो उस क्षण में आने वाला विचार अथवा कोई भी मानसिक या शारीरिक कर्म हमारा कैसे हो सकता है ? यदि हम इस सत्य का नित्याध्यासन करें, तो हम पायेंगे कि वास्तव में, अज्ञानवश ही हम इस कर्म के प्रकरण में अपने आपको स्वतः ही उलझा देते हैं। हमारी बुद्धि स्वयं को ही उलझा लेती है। इसलिए हम उन कर्मों के फल को भोगने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

इन कर्मों के पीछे क्या रहस्य है? मानव बुद्धि कर्म के रहस्य को नहीं समझ सकती। परन्तु हाँ ! पूर्णतया ईश्वर समर्पित होने के बाद मात्र एक खेल की तरह, एक लीला की तरह मानव इनका रसास्वादन करता है। **ईश्वर के प्रति समर्पित भाव से किये तथाकथित मानवीय कर्म ही उस मानव के लिए पुरुषार्थ बन जाते हैं और उसके लिए मोक्ष एव आनन्द का कारण बन जाते हैं।** परन्तु जब इसकी समर्पण की मानसिक स्थिति बनती है, तो वह भी किसी विशेष पुरुषार्थ, विशेष साधना एव विशेष उपासना का ही प्रतिफल होता है। ऐसे मानव यद्यपि देखने में साधक अथवा उपासक नहीं लगते, लेकिन हृदय से वे जन्म–जन्मान्तरों से बहुत बड़े उपासक अथवा साधक होते ही हैं। क्योंकि बिना साधना से अथवा बिना ईश्वरीय कृपा से ऐसी मानसिक स्थिति बन ही नहीं सकती कि कोई मानव अपने आपको पूर्णतया इष्ट के प्रति समर्पित कर दे। **समर्पण भाव और समर्पण का समर्पण यह अन्तिम परिणाम है किसी भी साधक की सफल साधना का अथवा उपासक की सफल उपासना का।**

प्रत्येक साधक का लक्ष्य अपने आनन्द स्वरूप की प्राप्ति नहीं है। कुछ लोग अपनी भौतिक शक्तियों को बढ़ाने के लिए ही साधना करते हैं। लेकिन ऐसे लोगों की साधना यद्यपि सफल भी हो जाये, तो भी वह उनको आनन्द एव मोक्ष नहीं दिला सकती। वह मात्र भौतिक शक्तियों के विकास के लिए ही कार्य करती है। **'सफल साधक'** या **'सफल उपासक'** जो शब्द प्रयोग किया है, वह मात्र उन उपासकों के लिए या साधकों के लिए है जो ईश्वर प्राप्ति के लिए एवं अपने सच्चिदानन्द स्वरूप पर अधिकार करने के लिए साधना करते हैं। अन्ततः उनका मल एव विक्षेप हट जाता है। आनन्द की एक ऐसी

स्थिति बनती है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

क्या–क्या बताऊँ मैं, तेरे मिलने से क्या मिला?
मुद्दत मिली, मुराद मिली, मुद्दा मिला,
सब कुछ मुझे मिला, जो तेरा नक्शे पाँ मिला।

ऐसी स्थिति में पहुँचने के बाद समस्त प्रकार की साधनाएँ व उपासनाएँ अपना सम्पूर्ण अस्तित्व खो देती हैं। जिस प्रकार की वर एव वधू के विवाह के पश्चात् बाराती एव अन्य सगे–सम्बन्धी अपना महातम खो देते हैं। जिस प्रकार कि कोई गर्भवती माता अपने सुन्दर शिशु को, पुत्र को जन्म देने के पश्चात् प्रसव पीड़ा को भूल जाती है। उसी प्रकार उपासक अपने इष्ट की झलक पाने के बाद समस्त तप को भूल जाता है। बुद्धि शिथिल हो जाती है। एक विशेष आनन्द की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति के बाद वह पुनः किसी भी संचित, अगामी अथवा वर्तमान कर्म के जाल में नहीं उलझता। उसकी समस्त क्रियायें ईश्वरीय हो जाती हैं। ऐसे व्यक्ति सदा मुदिता में, हर्ष में, उल्लास में, अभय में और अविरल आनन्द की स्थिति में अपना जीवन जीते हैं। जन्म और मृत्यु का भी अस्तित्व उनके मन एवं मस्तिष्क से हट जाता है। इस प्रकार जब पूर्ण आत्म समर्पण के पश्चात् मानव अपनी समस्त क्रियाओं को, समस्त विचारों को, समस्त कृत्यों को और जीवन के प्रति पल को, क्षण को, प्राण को, प्रति श्वास को अपने इष्ट में ही देखता है तो वह किसी भी कर्म के बंधन में नहीं बंधता। किसी बीज को यदि अग्नि में भूनकर पृथ्वी में बोयें तो वह भुना हुआ बीज कभी नहीं उगता। इसी प्रकार ज्ञानाग्नि में ऐसे महामानव के समस्त कर्मों के बीज नष्ट हो जाते हैं और वह कर्म–बंधन से मुक्त हो जाता है। उसकी एक ही आर्त्तनाद होती है कि, 'हे प्रभु! मुझे कर्म–बंधन से तुरन्त मुक्त कर दो, मैंने कुछ नहीं किया। मुझे बल, बुद्धि एवं विद्या से हीन कर दो। असमर्थ एवं अशक्त कर दो मुझे। मैं स्वयं कोई कर्म करने योग्य ही न रहूँ!। हे महाप्रभु! हे मेरे इष्ट! तुम स्वयं अपनी शक्ति से, अपनी सामर्थ्य से, अपनी बल, बुद्धि एवं विद्या से जो भी कर्म इस देह द्वारा, जो तुमने मुझे दी है, करवाना चाहते हो, वह ही करवाओ। मुझे अपने चरणों में, अपनी शरण में, अपने द्वार पर पड़ा रहने दीजिये। जन्म–जन्मान्तरों में अहम्वश अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करने के कारण मैं तुमसे विमुख ही रहा हूँ। कष्ट

झेलता रहा हूँ'। यह आर्त्तनाद जब किसी महामानव के ह्रदय से उठती है, तो प्रभु तुरन्त उसको क्षमा कर देते हैं। उसके जन्म–जन्मान्तरों के कर्मों का सारा फल उसी समय आनन्द में परिवर्तित हो जाता है। भले ही कुछ भी किया गया हो।

भ्रम उस समय होता है जब न ज्ञान होता है और न अज्ञान। जितने भी मानव के सांसारिक बंधन हैं, जितनी भी उलझनें हैं यह मात्र, भ्रम की स्थिति में ही हैं। पशु जगत अंधकारमय है। वहाँ घोर अंधकर है। इसलिए उनके कर्मों का कोई महातम ही नहीं माना जाता। वस्तुतः वह कर्मफलों से वंचित रहते हैं और विलक्षण ज्ञानमय मानव समस्त कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पित करने में सावधान रहते हैं। वस्तुतः किसी भी कर्म का बंधन उन्हें नहीं बांधता। जहाँ न ज्ञान होता है, न अज्ञान, वहाँ एक भ्रम की स्थिति होती है। वहीं मानव फँस जाता है। **कर्म की जितनी भी विधायें हैं जैसे कि कर्म का कारण, उसका कर्त्ता, कर्म से पहले का भाव, कर्म के बाद उत्पन्न होने वाली वृत्ति, स्वयं कर्म और कर्म का फल इन समस्त में से कुछ वह ईश्वर पर डाल देता है और कुछ अपने ऊपर ले लेता है। यदि सब कुछ वह ईश्वर समर्पित कर दे, तो भी कर्म–गतियों से उसका छुटकारा हो जाता है।** यदि सब कुछ वह अपने ऊपर ले ले और यह धारणा बना ले, कि ईश्वर ही उसके द्वारा यह सब कुछ करवा रहे हैं, तो भी वह उन कर्म की गतियों से विमुक्त हो जाता है। लेकिन भ्रम की स्थिति में वह सब कुछ न अपने ऊपर ले पाता है और न ईश्वर समर्पित कर पाता है और उस स्थिति में वह फँस जाता है। परम इष्ट कृपा से, सद्‌गुरु कृपा से व अन्ततः आत्मकृपा से उसको जब विशिष्ट ज्ञान हो जाता है, तो इस ज्ञानाग्नि में समस्त प्रकार के संचित, अगामी एव वर्तमान कर्मों के बीज तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। ऐसे कर्म जिनका बीज नष्ट हो जाता है, उनका फल भी उत्पन्न नहीं होता। उस स्थिति के बाद आनन्दमय जीवनधारा चलती है। उसका सम्पूर्ण अस्तित्व, सम्पूर्ण दिशा और सम्पूर्ण अन्त, मात्र, ईश्वर की इच्छा से ही होता है, जिसका वह आजीवन रसास्वादन करता है, बंधन रहित होकर। जीवन मानों ऐसे महामानव के लिए एक लीला सी हो जाती है। एक खेल सा हो जाता है। यहाँ के विभिन्न ईश्वरीय प्रकरणों का एवं इस संसार महानाट्‌यशाला का पूर्ण आनन्द लेने के लिए ही वह संसार में विचरता है और अन्ततः

आनन्द में ही जीवन लीला समाप्त होती है। उसके हृदय में एक आर्त्तनाद रहती है कि, **'हे महाप्रभु! यदि मेरा कोई कर्मक्षेत्र हो तो वह तुम से तुम तक हो। यदि मेरा कोई कर्म हो तो वह सब प्रकार से तुम्हारे साथ जुड़े रहना। और मुझे यही ज्ञान हो कि तुम ही मेरे सब कुछ हो। मात्र तुम ही। ससंार में यदि मेरा किसी से कोई सम्बन्ध हो, तो वह तुम्हारे कारण ही हो। सब कुछ तुद्मय हो। सर्वत्र तुम ही नज़र आओ।'** ऐसा जीवन एक उच्च जीवन होता है। ऐसे महामानवों के द्वारा ईश्वर स्वयं ही ऐसे कृत्य करवा देते हैं, कि जो सदियों तक पीछे आने वाले मानवों के लिए प्रेरणा के स्त्रोत रहते हैं। दूसरी ओर, अहम्भाव से जो मानव कर्म करते हैं, भले ही वे कितने उत्कृष्ट कर्म क्यों न हों, उनका परिणाम नकारात्मक ही होता है। ऐसे मानव अक्सर आलोचना का विषय बन जाते हैं। यही सत्य है। इसलिए जीवन का एक ही परम लक्ष्य हो, कि हमारे द्वारा मानसिक रूप से, शारीरिक रूप से अथवा बौद्धिक रूप से, जो कुछ भी हो उसको ईश्वर के चरणों में समर्पित करते जाये। वही कर्म हमारे लिए साधना बन जाते हैं और वही कर्म उपासना।

।। जय जय श्री राम ।।

मानसिक शक्ति

मानव देह स्वयं में ईश्वर की एक ऐसी उत्कृष्ट रचना है, जिसको उस महाप्रभु ने तीन प्रकार की शक्तियों से विभूषित किया है–शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति एवं मानसिक शक्ति। होश संभालने से लेकर या यूँ कहिये, कि जन्म से लेकर मुत्यु तक मानव विभिन्न अवस्थाओं से गुज़रता है और जीवन के विभिन्न आयामों में चलते अपनी जीवन यात्रा को किसी भी प्रकार से एवं सब प्रकार से पूरा करना है। जीवन की विभिन्न अवस्थायें हैं, जैसे शैशवावस्था, बाल्यकाल, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और अन्ततः वृद्धावस्था, जिसका अन्त मृत्यु में होता है। जीवनकाल में मानव विभिन्न आयाम, सुख, दुख, मिलना, बिछुड़ना, खोना, पाना, आबादी, बर्बादी, हंसना, रोना, लाभ, हानि और न जाने क्या–क्या देखता है। हमारी संस्कृति के अनुसार मानव बार–बार जन्म लेता है, पूर्व जन्म होते हैं, अगामी जन्म होते हैं। यह अपने में एक बहुत बड़ा रहस्य है। जैसा कि मैं अभी वर्णित कर चुका हूँ, कि तीनों प्रकार की शक्तियाँ मानसिक, बौद्धिक एवं शारीरिक मात्र, मानव में ही मिलती है। शारीरिक शक्ति तो पशुओं में भी बहुत मिलती है। बड़े–बड़े भीमकाय, जंगली एवं समुद्री जन्तु, शेर, चीते, हाथी इत्यादि कितनी विस्तृत शारीरिक शक्ति होती है उनमें। लेकिन जैसा कि आप जानते हैं, उनको मानव अपनी बुद्धि द्वारा नियंत्रित कर लेता है। उनके साथ खेलता है।

दूसरी, बहुत उत्कृष्ट शक्ति जो मानव को दी है, वह है बौद्धिक शक्ति, जिसका मैं कई बार वर्णन कर चुका हूँ कि इस बौद्धिक शक्ति का वास्तविक अर्थ क्या था और अनर्थ क्या हुआ? इसका विस्तृत वर्णन अभी करेंगे। बौद्धिक शक्ति केवल मानव को ही ईश्वर ने दी है। जैसा कि आप जानते हैं कि बौद्धिक शक्ति का स्त्रोत मानव मस्तिष्क है और मानव मस्तिष्क का निर्माण गर्भ में लगभग तीसरे महीने में होता है। जन्म लेने के बाद कई महीनों तक मानव शिशु अबोध होता है और उसके बाद धीरे–धीरे बौद्धिक शक्ति का विकास होता है। यह सम्पूर्ण रचना, शिशु के उत्पन्न होने का समय, उसके माता–पिता का निर्धारण, पैदा होने के स्थान का निर्धारण, विशेष परिस्थितियों का निर्धारण उस विशेष परिवार का और उस परिवार में विभिन्न जनों का निर्धारण, आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक स्थिति, तत्पश्चात् मानव जीवन में उसका विवाह, उसकी अपनी

संतान, उसका व्यवसाय अन्ततः उसकी मृत्यु का समय, स्थान और मृत्यु का कारण इन समस्त जीवन की प्रमुख घटनाओं का मानव बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह घटनायें स्वयं घटती हैं। इनकी पारिस्थितियाँ स्वयं बनती हैं और मानव बुद्धि उनके अनुसार ही कार्य करती है। इसके अतिरिक्त यदि हम इस उत्कृष्ट बुद्धि द्वारा विचार करें कि बहुत कम या नगण्य बुद्धि रखने वाले विशालकाय अथवा सूक्ष्म जीव–जन्तुओं में जन्म, मृत्यु, प्रजनन, खाना, पीना, रहन, सहन, अनुकूलन जीवन की अन्य आवश्यकतायें स्वयं ही पूर्ण होती हैं।

शायद, मानव को उकत्कृष्टतम बुद्धि प्रभु ने इसलिए ही दी होगी, कि उसकी सम्पूर्ण महा रचना को, वसुन्धरा, अथाह सागर, पर्वत श्रृंखलाएँ, अंसख्य वन सम्पदाएँ, असंख्य जीव–जन्तु, विस्तृत आकाश, असंख्य तारागण, नक्षत्र, मानव देह स्वयं और इसमें होने वाली घटनायें और क्रियाएं, इन समस्त का दिग्दर्शन और विवेचन अपनी सामर्थ्य के अनुसार करके बार–बार प्रभु की प्रशंसा कर सके। अगला आने वाला श्वास, हमारे हाथ में नहीं है। वह कभी भी चाहे जीवन लीला समाप्त कर सकता है। हम यह भी नहीं जानते कि इस पृथ्वी पर हमारा कर्त्तव्य क्या है? क्योंकि जो कार्य हमारे बिना भी हो सकते हैं और हो सकता है हमारे बिना अधिक सुचारु और सुन्दर हों, वे हमारा कर्त्तव्य कैसे हो सकते है? तो मानव बुद्धि द्वारा इन समस्त पहलुओं पर गहन चिंतन करने से ज्ञात होता है, कि **बुद्धि का सिवाय ईश्वर की प्रशंसा के कोई और कार्य नहीं है।** मानव को अपनी उत्कृष्टतम् बुद्धि द्वारा यह निर्णय कर लेना चाहिए कि उसके हाथ में कुछ नहीं है। यही दूसरी शक्ति है **मानव बुद्धि**।

तीसरी, जो भव्यतम् और उत्कृष्टतम् शक्ति ईश्वर ने मानव को दी है, वह है मानसिक शक्ति। शारीरिक शक्ति का स्त्रोत है मासँ–पेशियाँ, जो दिखाई देतीं हैं। **बौद्धिक शक्ति का स्त्रोत मस्तिक है जो देखा जा सकता है, लेकिन मानसिक शक्ति का स्त्रोत, मन दिखाई नहीं देता है। यह बहुत रहस्यमय विषय है। मानव में एक ही विलक्षण शक्ति है जो किसी अन्य जीव–जन्तु को प्राप्त नहीं होती, यह है मानसिक शक्ति, जिसके आधार पर हम उसको मानव कह सकते हैं। मानव की मानसिक शक्ति ईश्वरीय शक्ति का ही एक**

अंग है। जन्म–जन्मान्तरों तक विचरते हुए अपनी बौद्धिक शक्ति के अहम्‌वश कि, 'मैं ही संसार का निर्माणकर्ता, पालनकर्त्ता व संहारकर्त्ता हूँ'। मानव ईश्वर मन पर भी अधिकार जमाना चाहता है परन्तु जमा नहीं पाता। **जितना भी नाम–रूप का संसार है। यह सब ईश्वरीय माया है और ईश्वरीय माया वह शक्ति है, जिसका स्रोत है ईश्वरीय मन।** यही ईश्वरीय मन ब्रह्मा, विष्णु और महेश बनता है और जब वह ब्रह्मा बनता है, तो उसकी माया शक्ति सरस्वती है। जब वह विष्णु बनता है, तो उसकी माया लक्ष्मी बनती है, जब वह शंकर बनता है, तो वही ईश्वरीय माया साक्षात् पार्वती बनती है, दुर्गा बनती है, भवानी बनती है। अपने 108 विभिन्न नामरूपों में वह माया, महाशक्ति विभिन्न प्रकार के सांसारिक कार्य करने के लिए समय–समय पर प्रकट होती हैं, आवश्यकतानुसार एवं अपने भक्तों की आराधना और प्रार्थना के अनुसार। उस महानतम् ईश्वरीय माया को मानव बुद्धि अपने अहम्‌वश, अपनी माया में परिणत कर देती है और ईश्वरीय मन को मानव मन में। ईश्वरीय माया जब मानव माया में परिणत हो जाती है, तो यह दोनों माया और मन इसको भटकाने लगते हैं। उन पर मानव पुनः नियंत्रण करना चाहता है, जो कर नहीं पाता। वे ही मन इसके जीवन के अंतराल मे विभिन्न प्रकार की आसक्तियों एवं पाप, पुण्य के तथाकथित बोझ को ढोता हुआ जन्म–जन्मान्तरों में इसको काल–चक्र में भटकाता रहता है। उत्कृष्टतम् मानव जीवन बिताने के लिए परम आवश्यक है, कि मानव मन को, धन, सम्पदा, परिवार संतान, अपनी बुद्धि, बौद्धिक बल, अपनी शिक्षा एवं पदवी आदि जितनी भी सांसारिक उपलब्धियाँ हैं, इन सबको आर्तनाद करते हुए ईश्वर के चरणों में समर्पित कर दिया जाए। हमारे जीवन का एक–एक पल, एक–एक क्षण, एक–एक श्वास, एक–एक प्राण की गति उस प्रभु के हाथ में है। यदि मानव जीवन की विभिन्न उपलब्धियों की एक सारणी बनाई जाए और उसको प्रमुख दस भागों में बाँटकर, प्रत्येक भाग में दस–दस अंक दिये जायें, तो एक निश्चित मानसिक चेतना के स्तर मानव के होश संभालने से लेकर अंत तक इसके अंक सदा समान रहते हैं। कभी लोभवश, अत्याधिक धन या नाम इत्यादि के पीछे जब यह भागने लगता है, तो किसी न किसी विधा से अंक कम होने लगते हैं। जीवन असंतुलित हो जाता है। परन्तु यदि यह आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश

कर जाए, उसके बाद यह गणना अपना अर्थ खो देती है। इसकी समस्त शक्तियाँ परमोत्कृष्ट एवं आनन्दमयी हो जाती हैं और इसे जीवन को संतुलित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। किसी वस्तु की लालसा और भौतिक प्राप्तियों की इच्छा या उनका महातम् इसके मन में नहीं रहता। जीवन आनन्दमय हो जाता है।

यदि एक गिलास में जल भर कर उसमें चीनी अथवा नमक घोलें, तो एक निश्चित सीमा के बाद उस विशिष्ट तापमान पर वह वस्तु घुलनी बन्द हो जाती है। बल्कि उसके तले पर बैठना शुरू हो जाती है। इस प्रकार मानव मन की भी संतृप्ति की एक सीमा है। उस सीमा तक ही यह भौतिक उपलब्धियों को भोग सकता है। लेकिन मानव बुद्धि अज्ञानवश व लोभवश और–और प्राप्त करना चाहती है। आजीवन यह दौड़ता रहता है, अपनी सुख–सुविधाओं को, धन को और सम्पदा आदि को प्राप्त करने के लिए। वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, लेकिन उनको भोगने की क्षमता नहीं होती। मानव मन की शक्तियाँ इसको अधिकार की क्षमता देती हैं। जबकि बुद्धि इसको प्राप्ति की क्षमता देती है। वस्तुएँ प्राप्त कर लेता है, लेकिन उस पर अधिकार नहीं होता, क्योंकि मानव मन की भी एक सीमा होती है। जब प्राप्ति के अनुसार उन पर अधिकार नहीं होता तो वह उनको भोगना चाहते हुए भी भोग नहीं पाता, क्योंकि जब भी किसी वस्तु को हम भोगना चाहते हैं, तो उस पर अधिकार होना परमावश्यक है। भोगना चाहता है लेकिन अधिकार नहीं होता तो इसके मन में भय उत्पन्न हो जाता है। आज सारा विश्व भय के सागर में डूबा हुआ है। अति विचारणीय विषय है। किसी को स्त्री का भय, संतान का भय, धन का भय, अपनी देह का भय, डिग्रियों का भय और न जाने कितने प्रकार के भय प्रत्येक मानव को चिपके हुए हैं। शायद, उसका यही प्रमुख कारण है कि वह बौद्धिक अहम् के वश और–और प्राप्त करना चाहता है लेकिन उस पर अधिकार की एक निश्चित सीमा है। **भय और भोग कभी एक मंच पर इकट्ठे नहीं ठहर सकते।** जहाँ भय होता है, वहाँ भोग हो ही नहीं सकता। अत. मानव आजीवन अतृप्त रहता है, असंतुष्ट रहता है और इसी असंतुष्टि में उसके जीवन की अवधि समाप्त हो जाती है। मानव मन उस भय और असंतुष्ट की छाप को लिए पुनः देह धारण करता है। इस प्रकार विभिन्न आसक्तियों, विभिन्न पुण्य–पापों और विभिन्न भावों से जटित मानव मन हर जन्म में देह धारण

करता है और काल–चक्र में जन्म–जन्मान्तरों तक, युग–युगान्तरों तक घूमता रहता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि आनन्दमय भव्यतम्, सुन्दरतम् जीवन बिताने के लिए क्या उपाय किया जाये? वही गिलास जिसमें वह चीनी अथवा नमक घुलना बंद हो जाता है। यदि उसका तापमान बढ़ा दिया जाये, तो उसमें कुछ पदार्थ और घुल जाता है। इस सत्य से आप अवगत हैं। उसी प्रकार जब मानव जप, तप, साधना, ध्यान, चिंतन, मनन, उपासना करता है, तो उसकी मानसिक शक्तियाँ बढ़ जाती हैं और भोग पदार्थों को भोगने की उसकी क्षमता भी बढ़ जाती है। अन्ततः उसी मानव मन को जब वह ईश्वरीय मन में समर्पित कर देता है, **'त्वदीय वस्तु तुभ्यम् समर्पे'** और ईश्वर उसको स्वीकार कर लेते हैं, तो इसकी शक्तियाँ असीम हो जाती हैं। जिस प्रकार वह गिलास यदि सागर मे डूब जाए, तो उसकी क्षमताएं व उसकी धारिता असीम हो जाती है यद्यपि वह अपने में गिलास का गिलास ही रहता है। **इसी प्रकार महामानव वे हैं जिनकी देह तो वही रहती है, लेकिन उनका मन ईश्वरीय मन में समाहित हो जाता है।** वह अपने मन के संकल्प से एवं शक्तियों से कुछ भी कर एवं करवा सकते हैं।

उत्कृष्टतम् जीवन जीने के लिए प्राप्ति नहीं, बल्कि अधिकार चाहिए। प्राप्ति, अधिकार का अनुसरण करती है। परन्तु यदि प्राप्ति की ओर हम दौड़ते हैं, तो आवश्यक नहीं उस प्राप्त वस्तु को भोगने का अधिकार भी हो और **जिस वस्तु के भोग का अधिकार आपको मिल जाता है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह वस्तु आपको प्राप्त भी हो। आवश्यक उस वस्तु का भोग है प्राप्ति नहीं।** कितना बड़ा अंतर है पूर्वी और पाश्चात्य सोच में। आज पाश्चात्य जगत अपनी समस्त बुद्धि की शक्तियों के बल पर सुख–साधनों, धन–सम्पदा की प्राप्तियों के पीछे दौड़ रहा है और दौड़ा रहा है। अज्ञानी लोग उनका अनुसरण करते हैं। **जबकि हमारी भारतीय संस्कति में अधिकार पर बल दिया गया है।** मानसिक शक्तियों का विस्तार और मन को ईश्वर समर्पित करने के लिए समस्त साधना, उपासना, जप, तप पर महातम दिया गया है, ताकि हमारा अधिकार बढ़ जाए। इसका सर्वोत्तम उदाहरण है भगवान शिव शंकर, साक्षात् भोले भंडारी जो स्वयं दिगम्बर हैं, बिच्छुओं और सर्पों की मालायें धारण

किए हुए हैं और चिता की राख से जो सुशोभित है, वह जटाधारी शंकर, जिसको कहा है विश्वनाथ। उनके स्वयं के पास कुछ भी नहीं है, कोई प्राप्ति नहीं है, लेकिन उनका मनोबल इतना है कि वह सम्पूर्ण विश्व के नाथ हैं, प्रलयंकर हैं। किसी भी क्षण सारे विश्व को समाप्त कर सकते हैं। किसी भी समय वे अपनी शक्ति द्वारा कुछ भी करवा सकते हैं। स्वयं में वे दिगम्बर हैं, भस्मी भूत व भस्मी प्रिय हैं। तो यह मानव मन की शक्ति का उदाहरण है हमारी संस्कृति में।

प्रश्न यह उठता है, कि इस मानव मन की शक्ति को बढ़ाने के लिए क्या–क्या उपाय किए जाएं? **बौद्धिक प्राप्तियों से हटकर चलना आवश्यक है।** मानव प्राप्तियों के पीछे दौड़ रहा है, लेकिन वह प्राप्तियों बिना अधिकार के अधूरी हैं। वह उसके भय और विक्षेप का हेतु बन जाती है। इसके जीवन को न केवल निरर्थक बल्कि नकारात्मक बना देती है। यह अपनी बुद्धि से यह भी विचार नहीं करता, कि वह समस्त प्राप्तियाँ इसको यहीं छोड़कर जानी पड़ेगी। **इसके साथ जाएगा इसका मानसिक बल, इसका मन और इसकी चेतनता का स्तर।** मानव चेतना अपने में बहुत विलक्षण है। सुबह–सवेरे उठना, जप, तप, दान, ध्यान, समाधि, प्रार्थनायें, यज्ञ, हवन और पारिवारिक समस्त प्रकार के रिश्तों–नातों में मधुरता, सामंजस्य, अपने बुजुर्गों का सम्मान एवं सेवा–सुश्रुसा, अपने बच्चों का गर्भ काल से लेकर होश संभालने तक विशिष्टतम् ध्यान, अतिथि सत्कार, शुद्ध खान, पान, दुर्व्यसनों से रहितता, ये समस्त आयाम, ये समस्त साधन, मानव की मानसिक शक्ति को बढ़ाते हैं। गृहस्थ में ध्यान, समाधि अति कठिन है लेकिन जब कोई महामानव उस ईश्वरीय मन में अपने आपको समर्पित कर देता है, समाहित कर देता है, तो वह समाधि स्थिति जिसकी हो जाती है, वह मानव अपनी शारीरिक अैर बौद्धिक शक्तियों से परे चले जाते हैं। ऐसे महामानव यदि गृहस्थ में रहते हुए उस समाधि का भी प्रयत्न करते रहें, तो वह अपने मानविक मन को ईश्वरीय मन में समाहित कर सकते हैं। यही जीवन का अंतिम लक्ष्य है। बौद्धिक चातुर्य से वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं, लेकिन उनको भोगने का अधिकार तभी मिलेगा यदि मानव मन सशक्त होगा। जब तक किसी वस्तु को भोगने का अधिकार नही मिलेगा, भले ही वह वस्तु आपको प्राप्त हो, आप उसका भोग नहीं कर सकते और यदि भोग कर

भी लें तो मानव मन गलित हो जाता है, आनन्दित नहीं होता। इसलिए यदि आप जीवन को विलक्षणतम्, उत्कृष्टतम् और आनन्दमय बिताना चाहते हैं, तो **मानव मन की शक्तियों का उत्थान और विकास करिये और वे सब उपाय जो मानव मन को सशक्त बनाते हैं, उनका पालन, अनुसरण व उनके लिए प्रयत्न करना, शायद यही पुरुषार्थ है, जो मानव का परम लक्ष्य है।**

।। जय जय श्री राम।।

अधिकार

आज इष्ट प्रेरणा से जो आपके सम्मुख विषय प्रस्तुत कर रहा हूँ, इसका नाम है **'अधिकार'**। यह अधिकार क्या है? क्या यह अधिकार स्वतः उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न किया जाता है और यदि उत्पन्न किया जाता है तो कैसे? अधिकार की आवश्यकता क्या है? अधिकार और प्राप्ति में आपसी सम्बन्ध क्या है? अधिकार की सीमायें क्या हैं? सीमित अधिकार को असीम कैसे किया जा सकता है, इत्यादि। इन समस्त पहलुओं पर आज हम विचार करेंगे। जब हम किसी वस्तु का अधिग्रहण करते हैं, प्राप्ति करते हैं या कोई वस्तु हमें स्वतः ही प्राप्त होती है, तो क्या हमें उस वस्तु के भोगने का अधिकार भी होता है अथवा नहीं, यह अति विचारणीय विषय है। लोगों के पास अथाह सम्पदा होती है, धन होता है, बहुत बड़ी–बड़ी पदवियाँ होती हैं, बाहुबल होता है, तीक्षा बुद्धि का बल होता है, जन बल होता है, धन बल होता है और अन्य कई प्रकार की भौतिक शक्तियाँ होती हैं। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि क्या इन समस्त भौतिक प्राप्तियों एवं उपलब्धियों के बाद मानव को उन्हें आनन्दपूर्वक भोगने का भी अधिकार होता है?

आज समस्त संसार की दौड़ केवल प्राप्तियों एवं उपलब्धियों के पीछे है, शिक्षा के क्षेत्र में, धन के क्षेत्र में, चिकित्सा के क्षेत्र में, विज्ञान और राजनीति इत्यादि के क्षेत्र में। सभी ओर दौड़ है मानव की। उपलब्धियाँ भी हो जाती हैं। उन उपलब्धियों के बाद मानव मन और अशांत हो जाता है। और–और की इच्छा रात–दिन मानव को असंतुष्ट करती है और दौड़ाती रहती है जब तक कि अन्ततः यह मृत्यु की नितान्त शान्त एवं शीतल गोद में सो नहीं जाता। यहाँ तक कि जन्म और मृत्यु भी आज के संसार में विक्षेप का हेतु बना हुआ है। जन्म भी आनन्द से नहीं हो पाता और मृत्यु भी अक्सर कष्टमय ही होती है, जैसा कि मैं अपने पिछले कुछ प्रवचनों में इंगित कर चुका हूँ, कि जब मानव इस धरा पर आता है तो न केवल वह अपनी देह लेकर आता है, बल्कि उस देह के साथ एक सूक्ष्म मंडल होता है, जिसमें उसकी जीवन भर की भौतिक उपलब्धियों का लेखा–जोखा होता है। समय–समय पर वह समस्त प्राप्तियाँ उसके सम्मुख प्रगट होती रहती हैं। वैसी ही परिस्थितियाँ बन जाती हैं। वैसा ही मानसिक और बौद्धिक वातावरण उसी के अनुसार

बन जाता है और वे उपलब्धियाँ मानव को अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। केवल बुद्धि के अत्याधिक हस्तक्षेप से उनके मिलने में यदि कोई त्रुटि अथवा कष्ट होता है, तो मात्र वह मानव का स्वयं का ही निर्मित होता है, यही सत्य है। जो उपलब्धियाँ मानव को स्वतः ही होनी थीं, उनको उपलब्ध करने में ये अपनी समस्त शक्तियों को झोंक देता है। न जाने क्या–क्या उपाय करता है, उन वस्तुओं को पाने के लिए, जिन्हें यह स्वयं अपने साथ लेकर आया है, जिसका इसको ज्ञान ही नहीं है। भला विचारिये, कि माँ के गर्भ में 9 महीने 7 दिन में इतनी उत्कृष्ट मानव देह स्वयं ही निर्मित होती है, क्या इसके लिए इसने कुछ उपाय किया था? मानव देह के लिए व इसको जीवित रहने के लिए जो–जो भी आवश्यकतायें हैं, वह प्रत्येक मानव को समय–समय पर उपलब्ध होती हैं एवं उसके लिए सब प्रबन्ध स्वतः ही होते हैं। मात्र, उसके लिए ईश्वरीय विश्वास एवं धैर्य चाहिए।

मानव की प्राप्तियों के साथ मानवीय सम्बन्धों पर भी विचार करना आवश्यक है। मानवीय सम्बन्ध बनते हैं या बनाये जाते हैं। उनके पीछे भी मानव का कोई अर्थ होता है। क्या उन सम्बन्धों से उसकी अर्थ साधना हो जाती है ? इतने बड़े जगत में मानव कितने सगे–सम्बन्धियों के बीच रहता है और कितने ही सगे–सम्बन्धी बनाने का प्रयत्न करता रहता है। कितनी ही वस्तुएँ एकत्रित करता है अपने सुखद जीवन के लिए। क्या वास्तव में यह वस्तुएं अथवा सम्बन्ध उसका जीवन सुखद बना पाते हैं? और यदि नहीं बना पाते तो सुखों की बजाय दुखों एवं भय का हेतु बन जाते हैं, तो क्यों बन जाते हैं? इस पर विचार होना अति आवश्यक है।

प्राप्ति और भोग के बीच में एक विशेष कड़ी है, जो पूर्णतया मानसिक कड़ी है और जिसका नाम है अधिकार। अधिकार का स्थान है मानविक मन। जब तक मानव का किसी वस्तु पर, किसी सम्बन्ध पर, प्राप्ति पर अथवा उपलब्धि पर अधिकार नहीं होगा, तब तक वह वस्तु की उपलब्धि अथवा वह सम्बन्ध उसके भोग को तो क्या उसके लिए भय और तनाव के से बन जाते हैं। धन बहुत होता है लेकिन चितायें और भय बहुत होता है। रात्रि के शयन के लिए नींद की गोली खानी पड़ती है। वस्तुएं खाने–पीने के लिए बहुत हैं, लेकिन भूख नहीं होती। खाना पचाने के लिए और भूख बढ़ाने के लिए भी औषधि लेनी पड़ती है। सब प्रकार की सुख–सुविधायें होती हैं,

लेकिन भोग का अधिकार नहीं होता। तो क्या दौड़ मात्र उन वस्तुओं की प्राप्ति अथवा उपलब्धि के लिए ही है? वह प्राप्ति न केवल निरर्थक होगी, बल्कि नकारात्मक हो जायेगी। क्योंकि वह मानव के भय, त्रास एव विक्षेप का कारण बन जायेगीं। कोई भी बुद्धिजीवी मानव इस तथ्य को जानता है, लेकिन फिर भी वह अपनी दौड़ प्राप्तियों के पीछे ही लगाये रखता है।

यह अधिकार क्या है? **यह एक ऐसी मानसिक शक्ति है, जो किसी भी वस्तु अथवा सम्बन्ध को आनन्दपूर्वक भोगने के लिए अति आवश्यक है।** अपने स्वयं के रिश्तों में आप देख लीजिये। पति–पत्नी होते हैं लेकिन यदि उन्हें एक दूसरे पर अधिकार नहीं होता, तो वे मात्र एक सम्बन्ध सा होता है। उस दाम्पत्य जीवन में कोई भी आनन्द नहीं होता। अपनी संतान पर अधिकार न हो, तो उस संतान का सुख नहीं मिलता। धन बहुत हो, लेकिन अधिकार न हो तो उसमें से तनिक भी धन का आनन्दपूर्वक भोग नहीं किया जा सकता। वह धन, भय का हेतु बन जाता है। अधिकार न हो तो भले ही हमारे पास कितने भी निवास हों, हम उनमें पाँव भी नहीं रख सकते। किसी का पद कितना भी ऊँचा क्यों न हो, यदि उसे अपने पद पर अधिकार नहीं होगा तो वह उसके लिए भय, तनाव और चिन्ता का हेतु अवश्य बन जायेगा। यहाँ तक कि लोग ईश्वरीय उपासना बहुत करते हैं, लेकिन थोड़ा सा कष्ट आने पर वे मन–मस्तिष्क से निराश हो जाते हैं। उनको ईश्वरीय शक्तियों पर व अपने इष्ट पर अधिकार नहीं होता, प्रार्थनाओं का अधिकार नहीं होता, आशीर्वाद लेने का अधिकार नहीं होता। प्रत्येक क्षेत्र में आनन्दपूर्वक उपभोग के लिए अधिकार का होना अति आवश्यक है। जितनी साधना, जप, तप, दान, पुण्य व हवन, यज्ञ इत्यादि किये जाते हैं, ये सब मानव के अधिकार को बढ़ाते हैं। तप द्वारा मानव का किसी वस्तु को भोगने का अधिकार बढ़ जाता है। यही पर एक बात और जो विचारणीय है, वह यह कि जब मानव का अधिकार बढ़ता है, तो उस अधिकार के बढ़ने के साथ उसको वस्तुओं की प्राप्ति के लिए दौड़ने की आवश्यकता ही नहीं होती। वस्तुएँ स्वयं उसके पास आती हैं। सम्बन्ध उसके पास चलकर आते हैं और संसार के समस्त भोग उसके पास स्वयं आते हैं। यह दूसरी बात है कि वह उनको भोगे अथवा न भोगे।

लेकिन जैसा कि पहले प्रवचनों में मैं इंगित कर चुका हूँ, मानवीय मन की भी एक सीमा होती है, जबकि ईश्वरीय मन कोई सीमा नहीं होती। चूंकि मानव मन सीमित ही है इसलिए मानव मन का अधिकार भी सीमित ही होता है। जैसा कि मैं कई बार पानी के भरे गिलास का और समुद्र का उदाहरण दे चुका हूँ, कि गिलास को समुद्र में डालने के बाद उसकी क्षमता असीम हो जाती है, क्योंकि वह समुद्र में समर्पित व समाहित है। इसी प्रकार मानव मन जिसकी क्षमता की एक सीमा है, यदि उस से अधिक कोई वस्तु एकत्रित हो जाती है, तो हम उसका भोग नहीं कर सकते, बल्कि भयभीत हो जाते हैं, विक्षिप्त एवं चिन्तित हो जाते हैं। न जाने कितनी व्याधियों से ग्रसित हो जाते हैं। यदि कोई प्राप्त या उपलब्ध वस्तु भोग न दे, तो वह दुर्भाग्य नहीं है, परन्तु यदि वह वस्तु आपके लिए नकारात्मक बन जाये, जिससे ह्रदय की शान्ति खो जाये, तो वह वस्तु मानव के लिए एक शत्रु की नाईं हो जाती है और मानव मस्तिष्क को व ह्रदय को क्षण–क्षण, पल–पल खाती रहती है। रुग्ण हो जाता है मानव। भीतर से भयभीत हो जाता है।

सर्वप्रथम, किसी भी वस्तु पर, व्यक्ति पर एवं सम्बन्ध पर अधिकार के लिए उसमें श्रद्धा एवं प्रेम का होना अति आवश्यक है। श्रद्धा क्या है ?जब एक मानव को दूसरे मानव में श्रद्धा होती है तो उसकी दूसरे मानव से कुछ भी पाने की कोई इच्छा नहीं होती। अपनी समस्त शक्तियों द्वारा उसके लिए जो कुछ सर्वोत्तम कर सकता है वह निस्वार्थ भा**व से मात्र मोह एवं प्रेम वश करता है। इसे कहा है श्रद्धा।** श्रद्धा से मिलता–जुलता एक शब्द है सौदा। जो आजकल बहुत ज्यादा प्रचलित है। विशेष कर पाश्चात्य देशों में किसी को यदि जल का एक गिलास भी दिया जाये, तो उसके पीछे कोई न कोई आकांक्षा या इच्छा रखी जाती है। जब तक पति–पत्नी में, संतान और माता–पिता में, गुरु–शिष्य व शिक्षक–शिक्षार्थी में सौदे की भावना होगी कि, 'मैं इसके लिए यह कर रहा हूँ, यह मेरे लिए क्या कर सकता है,? तो उस सौदे की भावना में मानव का अपनत्व भी खो जाता है। ऐसे लोग कभी किसी के नहीं होते और उनका कोई नहीं होता। बहुत बड़ी सांसारिक भीड़ में वे अकेले ही होते हैं और यदि अतिशयोक्ति न मानें, तो वे स्वयं अपने भी नहीं होते। उनकी अपनी देह भी उनको

किसी समय भी धोखा दे जाती है। उनकी संतान, उनकी स्त्री, उनका पति, उनका अपना पद व उनकी सम्पत्ति उनकी अपनी नहीं होती। भले ही वे समस्त सुख–सुविधाओं से, वस्तुओं से और प्राप्तियों से युक्त हों। जैसा कि मैं वर्णन कर चुका हूँ, मानव मन की एक सीमा है। उस सीमा को कुछ यौगिक प्रक्रियाओं, यज्ञ–हवन व दान–पुण्य आदि द्वारा बढ़ाया जा सकता है। अपना स्वयं का अधिकार बढ़ाने से वस्तुओं के भोग की सीमा बढ़ जाती है निस्सन्देह। लेकिन सीमा तो सीमा ही है। तो क्यों न कोई ऐसा विचार करें कि जिससे हमारा हक असीम हो जाये।

मानव जब विवेक बुद्धि से कार्य लेते हुए, अपने सद्गुरु की कृपा से, इष्ट कृपा से और अन्ततः आत्म कृपा से, स्वयं के मन को ईश्वरीय मन में समाहित कर देता है, तथा जब वह स्वयं ईश्वर के चरणों में समर्पित हो जाता है, तो तुरन्त उसका मन यद्यपि मानव मन ही रहता है, लेकिन उसकी क्षमता, उसके अधिकार असंख्य गुणा तुरन्त ही बढ़ जाते हैं। ऐसी स्थिति में, ऐसे महामानव को सांसारिक भोगों के और सुख–सुविधाओं के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं होती। सारा संसार मानो उसके लिए हो जाता है। प्रत्येक मानव, प्रत्येक जीव–जन्तु में उसके प्रति एक अपनत्व की भावना उत्पन्न हो जाती है। समस्त वनस्पतियाँ व प्रकृति के महासाधन मानो सभी, उसके भोग के लिए और आनन्दमय भोग के लिए तत्पर रहते हैं। ऐसे मानव इस धरा पर आकर सम्पूर्ण जीवन बहुत अधिकार पूर्वक बिताते हैं मानो सारा संसार और कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड मात्र इनके लिए ही बने हो। यही का समस्त सुख, समस्त ऐश्वर्य इनके लिए ही होता है। तो इस सारे प्रकरण में **मानव मन को अन्ततः ईश्वरीय मन में समाहित करना पड़ता है। यही वास्तविक पुरुषार्थ है।**

आज हमको यह निर्णय करना होगा कि पृथ्वी पर आने के बाद एवं होश सम्भालने के बाद हमारी प्रवृत्ति तथाकथित कर्मों अथवा कर्त्तव्यों की ओर होनी चाहिए या पुरुषार्थ की ओर। जितने भी कर्त्तव्य अथवा कर्म हैं, समस्त भौतिक हैं, जब तक वे ईश्वर को अर्पित नहीं किये जाते। एक छोटे से जीवन में अति उत्कृष्ट बुद्धि, शारीरिक शक्ति व अन्य शक्तियों से युक्त मानव अपना संकुचित जीवन बिताकर संसार से विदा हो जाते हैं। लेकिन पुरुषार्थ द्वारा सम्पूर्ण शक्तियाँ इस ओर लग जाती हैं, कि मेरा सत्य स्वरूप

क्या है? मेरा सच्चिदानन्द ईश्वर कहाँ है? मुझे इस धरा पर लाने वाला कौन है? कहाँ है? जब यह प्रश्न कौंधने लगते हैं, तो उस जिज्ञासु मानव को कोई न कोई सद्गुरु अवश्य मिल जाता है।

मानव देह प्रभु की परमोत्कृष्ट संरचना है, जिसमें पाँचों महाभूतों का विलक्षण समन्वय है। एक भी तत्व के कम होने से मानव देह महा भयानक रोग से ग्रसित हो सकती है। जिसको हम जड़ कहते है, यहाँ जड़ कुछ भी नहीं है। मात्र हमारे अज्ञान का प्रगटीकरण है **जड़ता**। वह सच्चिदानन्द ईश्वर सत्य है, चेतन है एवं आनन्द है और इन तीनों का अविरल, अकाट्य और परिपूर्ण सम्मिश्रण है। ऐसे सच्चिदानन्द ईश्वर की परम महासृष्टि में कुछ भी जड़ नहीं है, कुछ भी असत्य नहीं है और कुछ भी आनन्द से रहित नहीं है। इस महासकारात्मक तथ्य को अपने हृदय में सदा रखते हुए हम उस परम सत्ता को नमन करें, उसका पूजन करें, ध्यान करें, चिन्तन करें और उसकी समीपता पाने के लिए उसमें अति श्रद्धा रखें। तब जाकर महाईश्वरीय कृपा से कभी न कभी उस पर अधिकार का भाव मानव हृदय में उत्पन्न हो जायेगा। जिस समय ईश्वरीय सत्य पर अधिकार भाव आ जायेगा, तो ऐसा प्रतीत होगा कि कोटि–कोटि महाब्रह्माण्डों का सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण आनन्दपूर्वक भोग मानो मात्र मेरे लिए ही हो।

जिस प्रकार ईश्वर के एक नाम अंसख्य रूप, एक रूप असंख्य नाम, असंख्य नाम असंख्य रूप है, उसी प्रकार ऐसे महामानव स्वयं में भी अपने एक नाम असंख्य रूप, एक रूप असंख्य नाम एवं असंख्य नाम असंख्य रूप में विचरने लगते हैं और ईश्वर की महा कृपा के पात्र बन जाते हैं। यहाँ भी श्रद्धा, विश्वास और समर्पण का भाव होना अति आवश्यक है। जहाँ तक सांसारिक भौतिक पदार्थों का, सुख–सुविधाओं का प्रश्न है, वह तथ्य मैं आपके सम्मुख रखने जा रहा हूँ। मान लीजिए किसी ने अपने धन बल से, अपनी सुख–सुविधाओं के लिए कोई वस्तु ली है, जैसे कि वातानुकूल मशीनें, वाहन या विभिन्न प्रकार की गाड़ियां, इत्यादि। तो जितनी भी तथाकथित जड़ वस्तुएँ हैं, जब उनकी प्राप्ति होती है और जब हम मात्र धन की मात्रा से ही इनकी कीमत लगाते हैं, तो यह आवश्यक नहीं है कि यह हमें भोग भी दे सकें। इसलिए इन वस्तुओं को भी चेतन मानते हुए इनका पूजन और श्रद्धा से इनका रख–रखाव, इनकी सेवा एवं इनका सम्मान

करें। इनके प्रति श्रद्धा रखें तो ये वस्तुएँ भी हमको बहुत उपयोगी एव आनन्दपूर्वक भोगने के लिए उपयुक्त हो जाती है। घर में यदि हम किसी पशु–पक्षी को रखें, जैसे गाय, भैस, घोड़ा, कुत्ता और अन्य प्रकार के पालतू जीव–जन्तु, तो उनके प्रति भी श्रद्धा भाव होना बड़ा आवश्यक है। घर के सदस्यों एवं स्वजनों की तरह यदि हम उनसे हार्दिक व्यवहार रखें, उनके भोजन का, उनके रहन–सहन का और चिकित्सा इत्यादि सब पहलुओं पर तो वे पालतू पशु भी हमारे लिए अति आनन्ददायी हो जाते हैं। उनका हमारे घर में रहना एक ऐश्वर्य और सौभाग्य का सूचक हो जाता है। यदि हम इन जीव–जन्तुओं से मात्र उन पर लगाये गये धन के अनुसार ही उनकी सुविधाओं को चाहे तो यह एक बहुत बड़ी भूल है। जब तक अपनत्व के साथ इनके ऊपर हमारा श्रद्धा भाव नहीं होगा, तब तक उन पर अधिकार जागृत नहीं होगा। तो स्वयं अपने हाथ से उनको भोजन खिलाना, अपने हाथ से उनको जल देना व प्रेम से स्पर्श आदि आवश्यक है। यह सब प्रकरण उन पर अपना मानसिक अधिकार उत्पन्न करने के लिए हैं, ताकि वे हमारे लिए बहुत उपयोगी हो जाये।

अब जो एक बहुत गहन विषय आपके सम्मुख रख रहा हूँ, वह है **दाम्पत्य जीवन में पति–पत्नी का आपस में एक–दूसरे के ऊपर अधिकार।** जैसा कि आप जानते हैं कि किसी भी समाज में विवाह एक धार्मिक प्रकरण है, जो कि विभिन्न प्रकार के रीति–रिवाजों से सम्पन्न होते हैं। एक स्त्री, एक पुरुष के साथ अति पवित्र एवं धार्मिक रीतियों से सम्पन्न विवाह सूत्र में बँध जाती है। वह आजीवन एक दूसरे के लिए हो जाते हैं। यह एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसके आगे समस्त मानवीय सम्बन्ध फीके पड़ जाते हैं। तो सम्बन्ध होना ही काफी नहीं है। विवाह का अर्थ क्या है? न केवल संतान उत्पति। संतान उत्पत्ति तो बिना विवाह के भी हो सकती है, जैसे पशुओं में होती है। बल्कि अपने कुल को आगे चलाने के लिए, अपने माता–पिता के आशीर्वाद को सार्थक और साकार रूप देने के लिए ऐसी संतान उत्पन्न करना, जो कि हमारे परिवार के लिए, समाज के लिए, देश के लिए और सम्पूर्ण विश्व के लिए हितकारी हो और जो एक इतिहास का निर्माण करने के लिए सक्षम हो। पति–पत्नी जब एक दूसरे के प्रति मात्र दैहिक रूप से आकर्षित होकर काम–क्रीड़ा करते हैं और उस आकर्षण में यदि अधिकार नहीं है तो

उनके द्वारा उत्पन्न संतान पर उनका कोई अधिकार नहीं होगा। यह एक निश्चित प्राकृतिक नियम मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ। मात्र विवाह बंधन में बंधकर और दैहिक आकर्षण वश जब स्त्री और पुरुष में समागम होता है, तो उसके द्वारा उत्पन्न संतान में मानवता का बहुत अभाव होता है। माता–पिता का उस पर और उस संतान का माता–पिता पर अति न्यून अधिकार होता है।

किसी पर अधिकार के लिए उसके प्रति श्रद्धा, समर्पण और सेवाभाव का होना परम आवश्यक है। किसी व्यक्ति को, किसी सम्बन्ध को तथा किसी वस्तु को मात्र स्वार्थ से और धन से नहीं तोला जा सकता। इसी प्रकार ईश्वरीय सम्बन्ध में भी अधिकार होना परम आवश्यक है। मैं कई बार इंगित कर चुका हूँ कि ईश्वर को मानना, उसको किसी नामरूप में बाँधना और उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करना ही पर्याप्त नहीं है। जप, तप, दान, पुण्य, ध्यान, चिंतन और यज्ञ, हवन इत्यादि जितने भी प्रकरण हैं, ये समस्त ईश्वर के ऊपर अधिकार के लिए हैं, जो कि मात्र ईश्वर कृपा से ही होते हैं। उसकी कृपा से ही हम प्रभु के सम्मुख बैठ सकते हैं और जो भी ये क्रियायें हैं, वे उसकी कृपा से ही कर सकते हैं। ***'बिन हरि कृपा मिले न संता।'***

ईश्वर की जब कृपा होती है तभी संत और सत्संग मिलता है। मात्र क्रियायें ही आवश्यक नहीं है। जब हम श्रद्धा व समर्पित भाव से ईश्वर के सम्मुख बैठते हैं और उनके आदेश से, उनकी प्रेरणा से एवं स्वतः भाव से ही सब साधना करते हैं। तत्पश्चात् उसे ईश्वर के निमित्त कर देते हैं, उनके चरणों में समर्पित कर देते है, कि–'हे प्रभु! मैं कुछ भी करने योग्य नहीं हूँ।' जब यह भाव, हृदय में, मस्तिष्क में एवं हमारी आत्मा में प्रवेश कर जाता है, तो उस विनम्रता से ईश्वर कृपा अवश्य उत्पन्न होती है। ईश्वरीय शक्तियों पर हमारा अधिकार हो जाता है। तो हम इस संसार का, समस्त पदार्थों का एवं अपनी देह का आनन्दपूर्वक रसास्वादन करते हैं।

जितने भी हमारे भौतिक सम्बन्ध हैं, उनके बारे में यहाँ पर एक परम तथ्य मैं आपके सम्मुख रखना चाहूँगा, वह यह कि भौतिक सम्बन्ध सर्वप्रथम मात्र सम्बन्ध होते हैं और अधिकार बाद में आता है। अधिकार होना या न होना यह आवश्यक नहीं है। प्राय. भौतिक सम्बन्ध मात्र सम्बन्ध ही होते हैं तथा ऐसे सम्बन्ध अक्सर कष्टपूर्ण एवं दुखद हो

जाते हैं। इस जगत में जीवन के किसी मोड़ पर, किसी देश व किसी काल में कभी–कभी कोई ऐसा व्यक्ति आपके सामने आ जाता है, जिसको देखते ही एक अपनत्व एवं अधिकार की भावना जागृत हो जाती है। कुछ क्षणों का मिलन ऐसा लगता है, मानो जन्म–जन्मान्तरों से हो। उसके पास बैठने की इच्छा होती है। उससे बिछुड़ने के बाद उसको पुनः मिलने की इच्छा होती है। तो समझ लीजिए जन्म–जन्मान्तरों से उस व्यक्ति से आपके आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं। मर्यादाओं व औपचारिकताओं के लिए उन सम्बन्धों को कुछ भी नाम दे दीजिये। **आध्यात्मिक जगत में सम्बन्ध गौण है और अधिकार सर्वोपरि, जबकि भौतिक जगत में सम्बन्ध सर्वोपरि है और अधिकार गौण। लेकिन जब भौतिक सम्बन्धों में एक दूसरे के प्रति निष्ठा, विश्वास और श्रद्धा भी उत्पन्न हो जाये तो वे सम्बन्ध भी भौतिक नहीं रहते, वे आध्यात्मिक ही होते हैं।**

आइये, निर्भय होकर उस ईश्वर में पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा रखते हुए अपने मानव मन को उसके चरणों में समर्पित करें, जिससे कि ईश्वर पर भी हमारा असीम अधिकार हो जाये और हम जीवन के एक–एक क्षण का, एक–एक पल का आनन्दपूर्वक भोग करते हुए जगत कल्याण करें। यही जीवन का परम लक्ष्य है।

।। जय जय श्री राम।।

मानस एवं सूक्ष्म जगत

मानस और सूक्ष्म जगत में अन्तर क्या है, यह ब्रह्मविद्या से सम्बन्धित प्रश्न है। इसमें अति एकाग्रता की आवश्यकता है। जब कोई लेखक किसी उपन्यास अथवा कहानी को लिखता है, तो जितने उस कहानी के पात्र, जो देश, काल एवं परिस्थितियाँ इत्यादि होती हैं, वे सब उसके मानस मण्डल से ही उत्पन्न होती है। **उसका सम्पूर्ण उपन्यास एक मानस है।**

उदाहरण के लिए **राम चरित मानस** ले लीजिये। इस सम्पूर्ण राम लीला में जितने भी पात्र एवं अंग हैं, जिनमें प्रमुख हैं **स्वयं भगवान ही राम**। उनका सम्पूर्ण परिवार, राक्षस कुल, अयोध्या नगरी और विभिन्न वे स्थान, वे देश वहाँ भगवान विभिन्न प्रकार की लीलायें करते हैं, सारे पात्रों का, समस्त देश का, काल का, परिस्थितियों का, लाभ, हानि का, उनके जीवन, मरण का, उनके यश, अपयश का और समस्त प्रक्रियाओं का लेखा, जोखा स्वयं भगवान श्री राम ने ही किया है। इस सम्पूर्ण लीला का केन्द्र बिन्दु वह स्वयं हैं। यहाँ प्रमुख बात यह है कि राम यह जानते हैं कि **यह मात्र मेरी लीला है**। यहाँ यह जानना भी बहुत आवश्यक है, उस लीला में कि उसके प्रमुख पात्र को यह ज्ञान हो कि सम्पूर्ण लीला उसी के द्वारा रचित है, उसी के चहुँ ओर घूम रही है और उसका केन्द्र बिन्दु भी वे स्वयं ही हैं। समस्त पात्र, समस्त परिस्थितियाँ उसके द्वारा ही निर्मित हैं। यदि वे अपने किरदार को अति सुन्दरतापूर्वक एवं आनन्द से निभाता है, तो समझिये **वह समस्त लीला उस मुख्य पात्र का एक मानस है।**

राम योद्धा है, मायापति हैं, अयोध्यापति हैं, महाणवीर एवं पराक्रमी हैं और उनके साथ युद्ध करने के लिए यदि रावण जैसा महाप्रतापी योद्धा न होता, तो उसके साथ युद्ध कौन कर सकता था? राम के साथ शत्रुता मोल लेने के लिए भी महासशक्त शत्रु चाहिए था, जो कि रावण जैसा ही हो सकता था। कथाकारों ने लिखा है, **राम और रावण का युद्ध कैसा था? कि जैसा राम और रावण का युद्ध था। राम और रावण का युद्ध अतुलनीय है।** वह राम द्वारा ही रचित था। प्रभु राम कुछ संदेश इस पृथ्वी पर आकर देना चाहते थे, जो उन्होंने अपनी लीला द्वारा दिये।

दशरथ मरण क्यों हुआ? मन्थरा ने कैकेयी की बुद्धि को क्यों फेरा? दशरथ को

श्रवण के अन्धे माता–पिता का श्राप क्यों मिला, सूर्पनखा ने मोहित होकर भगवान श्री राम या लक्षमण को वरण करने की क्यों सोची और अपना विकराल रूप क्यों धारण किया? रावण ने माता सीता को क्यों चुराया? जितने भी विशिष्ट प्रकरण आप रामचरित मानस से लेंगे, यदि आप सूक्ष्म दृष्टि से, गहनता से और ईश्वर कृपा से विचार करें, तो आप पायेंगे कि वे एक राम द्वारा ही रचित थे। सारी लीला वैसे होनी ही थी। विष्णु ने अपने सहयोगी भगवान शंकर, शिव–शक्ति जो हनुमान जी के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए, उनके सहयोग से यह सम्पूर्ण लीला रची, तो उसको कहा है **मानस।**

एक व्यक्ति का जो इसमें प्रमुख भूमिका निभाता है, सम्पूर्ण लीला पर नियंत्रण होता है, या यूँ कहिए, कि सम्पूर्ण लीला उसकी इच्छा से ही चलती है। भले ही वह जगत में इसका प्रगटीकरण करे अथवा न करे। जब ईश्वरीय शक्ति स्वयं इस धरा पर आकर कोई खेल खेलना चाहती है या लीला करना चाहती है, तो सम्पूर्ण सूक्ष्म मंडल और उस सूक्ष्म मंडल में वह स्वयं भी किसी नामरूप में अपने भक्तों के आग्रह से अथवा अपनी इच्छा से अवतरित होती है। इस लीला का सम्पूर्ण प्रारम्भ, प्रतिपादन और सम्पादन उसकी स्वयं की इच्छा से ही होता है। इस प्रकरण में सबसे आवश्यक बिन्दु यह है, कि **ईश्वर जब अवतरित होकर स्वयं विभिन्न नाम रूपों में लीला करते हैं, तो इस लीला का प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त आनन्द में होना अति आवश्यक है। ईश्वर लीला आनन्द में ही होती है।** आज कलिकाल है। कई ऐसे मानव पैदा हो गए हैं जो स्वयं को भगवान कहलाने में या कहने में संकोच नहीं करते हैं। वहाँ पर इस लीला को देखना एवं विचार करना बड़ा आवश्यक है कि क्या सारा प्रकरण आनन्द में है?

कृष्ण लीला ले लीजिए। कृष्ण, अर्जुन की सहायता के लिए स्वयं को प्रस्तुत कर रहे हैं कि, 'तुम्हारे सम्पूर्ण युद्ध में मैं निहत्था रहूँगा, कोई शस्त्र नहीं उठाऊँगा' और दूसरी ओर अपनी पूरी चतुरंगनी सेना दुर्योधन को सौप देते हैं। उत्कृष्टतम् बुद्धि से जितना भी विचार किया जाए, तो हम पायेंगे कि वह मानव मस्तिष्क हो ही नहीं सकता। इस महाभारत के युद्ध से स्पष्ट है कि कोई ईश्वरीय शक्ति जो कृष्ण बनकर खेल रही है, सारे महाभारत का प्रकरण उसके द्वारा ही प्रारम्भ हुआ, उसके द्वारा ही सम्पादित हुआ

और उसमें विभिन्न पात्र कोई भीष्म पितामह बनकर, दुर्योधन बनकर, धृतराष्ट बनकर, शंकुनि बनकर, पाँचों पांडव बनकर एवं कोई द्रोपदी बनकर जितने भी इसके किरदार हैं, वे सब मात्र उस एक कृष्ण द्वारा ही रचित लीला के विभिन्न पात्र हैं। इसलिए उनको भगवान कहा है। वह सम्पूर्ण कृष्ण का मानस है। उसमें जितने भी योद्धा, पराक्रमी, बली, विद्वान, ज्ञानी, अज्ञानी, महाभारत का युद्ध और अन्य जितने प्रकरण हैं, उन सबका मात्र एक ही अधिष्ठाता और एक ही केन्द्र बिन्दु है, जो स्वयं जानता है कि सारा प्रकरण मात्र, उसकी अपनी लीला है।

राम लीला और कृष्ण लीला में अंतर यह है कि राम मर्यादित होकर लीला करते हैं और कृष्ण ने अमर्यादित होकर लीला की है। कृष्ण ने मानवीय मर्यादाओं का उल्लघंन किया है क्योंकि वे स्वयं समर्थवान हैं। समर्थवान राम भी हैं, उनकी लीला का अपना अलग आयाम है। समर्थवान कौन है? यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए। कोई शारीरिक रूप से बलवान हो या किसी के पास धन की या पदवी की शक्ति हो, तो उसके समर्थवान नहीं कहा जा सकता। **समर्थवान वह है जो प्रारब्ध के बंधन को काट चुका है।** आपने जीवन के कई प्रकरणों और प्रसंगों में **प्रारब्ध** शब्द को स्वयं अथवा लोगों द्वारा प्रयोग करते सुना होगा। यह प्रारब्ध क्या है? यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाए, कि मानव शरीर जब मृतक हो जाता है, तो उसमें से जीवात्मा अलग हो जाती है। पार्थिव शरीर जो स्वयं में जड़ है, उसका अपना कोई प्रारब्ध हो नहीं सकता और जो चेतन सत्ता उससे अलग हुई, उसका प्रारब्ध कभी बना ही नहीं। जो ईश्वरीय अंश है उसका प्रारब्ध कैसे हो सकता है? तो फिर प्रारब्ध किसका? कोई महामानव साधना द्वारा, ध्यान द्वारा, चिंतन द्वारा, सद्गुरु कृपा द्वारा, इष्ट कृपा द्वारा और अन्ततः आत्म कृपा द्वारा इस रहस्य को अन्तर्निहित कर लेता है कि, 'मैं स्वयं ही चेतन स्वरूप हूँ, मैं चेतन ही चेतन हूँ।'

यह प्रारब्ध तो जड़ और चेतन की ग्रन्थि का है, जब कोई महामानव अपनी इस ग्रन्थि से विमुक्त हो जाता है, तो वह इस प्रारब्ध नाम के बंधन से तुरन्त छूट जाता है, उसको कहा है **समर्थ स्थिति। उस समय ईश्वर और उसके स्वयं में कोई भेद नहीं रहता।**

खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है?

उस समर्थ स्थिति में जब वह इस जड़–चेतन नाम की ग्रन्थि से अलग हो जाता है छूट जाता है, तो प्रारब्ध नामक कोई संज्ञा अपना अस्तित्व नहीं रखती। इस समर्थवान स्थिति में वह अपने भाग्य का, अपने अतीत, वर्तमान एव अपने भविष्य का स्वयं निर्माता हो जाता है। उसका ईश्वरीय सत्ता के साथ सम्पर्क हो जाता है। वह दूसरी बात है कि **भक्ति योग में वह द्वैत में विचरना पसन्द करता है। भक्ति मार्ग में द्वैत का आनन्द है। इष्ट अलग, मैं अलग। इस रहस्य को जानते हुए भी कि मेरे इष्ट में और मुझ में कोई भेद नहीं है।**

जब सूक्ष्म जगत का पर्दा हट जाता है और किसी महामानव को अपने सच्चिदानंद स्वरूप की झलक मिल जाती है, तो उसके पश्चात् वह खेलना चाहता है। वह है समर्थवान स्थिति और वह है प्रारब्ध का अन्त। **जितने महापुरुष पृथ्वी पर अवतरित हुये हैं, खेलने के लिए एवं लीला करने के लिए, वे प्रारब्ध बन्धन से मुक्त होकर आये हैं और जब कोई प्रारब्ध में बंधा होता है, तो वह कभी लीला नहीं कर सकता।** गुरु वशिष्ठ जैसे महातपस्वी और महाज्ञानी जो साक्षात् बड़ा ऋषि है, उन्होंने अपने ज्योतिष ज्ञान के आधार पर भगवान श्री राम के राजतिलक का मुहूर्त निकलवाया लेकिन भगवान की लीला देखिए, कि उसी समय श्री राम को चौदह बरस का बनवास मिलता है फलस्वरूप दशरथ मरण होता है।

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ,
हानि लाभ जीवनु मरनु जसु अपजसु विधि हाथ।

तो जो व्यक्तित्व, जो व्यक्ति, जो पीर–पैगम्बर और जो अवतार इतने सशक्त होते हैं कि प्रारब्ध नामक प्रकरण से विमुक्त हो जाते हैं। उन पर किसी प्रकार के ग्रह, नक्षत्र, ज्योतिष–गणना, तंत्र–मंत्र इत्यादि, किसी प्रकरण का कोई प्रभाव नहीं होता और यदि होता है, तो वह समस्त उनके अनुकूल ही चलते हैं, क्योंकि उनकी ऐसी ही इच्छा होती है। उनके जीवन में, जब वे चाहते हैं तभी कोई शक्ति किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सकती है। यदि वे नहीं चाहते तो ऐसा हो नहीं सकता।

ऐसे महापुरुष अपनी लीला आनन्द में करते हैं, आनन्द में विचरते हैं और आनन्द में ही लीला समाप्त करके समय रूपी रेत पर अपने पद्चिन्ह छोड़ जाते हैं, ताकि भविष्य में आने वाली पीढ़ियाँ उनका अनुकरण कर सकें। कुछ लीलायें अनुकरणीय होती है और कुछ विचारणीय है। भगवान विष्णु, राम रूप में खेलते हैं एवं रामलीला करते हैं, तो सारी लीला मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने मानवों के लिए की, इसलिए वे अनुकरणीय हैं। सम्पूर्ण प्रकरण मर्यादित हैं। स्त्री का पुरुष से, राजा का प्रजा से, प्रजा का राजा से, संतान का माता–पिता से, माता–पिता का संतान से, गुरु का शिष्य से, शिष्य का गुरु से सम्बन्ध और अन्य सब प्रकार की मर्यादाओं का विस्तृत और आदर्श चित्रण है। जबकि कृष्ण लीला में ऐसी कोई मर्यादा नहीं है। कृष्ण लीला साधारण मानव के लिए अनुकरणीय नहीं है। वे विचारणीय है और वे भी जिस पर कृष्ण की कृपा हो।।

सो जानई जिस देहु जनाई, जानत तुम्हीं तुम्हई हो जाई।

कृष्ण के मानस के रहस्यों कौन जान सकता है? जिसको कृष्ण जनवायें। आज गीता का प्रवचन सारे विश्व में होता है, लेकिन यहाँ पर एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि **गीता स्वयं भगवान श्री कृष्ण के श्रीमुख से उच्चरित नरश्रेष्ठ अर्जुन को दिया गया उपदेश है।** अर्जुन जब अपने स्वजनों को युद्धक्षेत्र में देख कर अपना गाण्डीव छोड़कर बैठ जाता है, तो यह भी कदाचित कृष्ण की ही इच्छा रही होगी, अन्यथा अर्जुन मोहवश अपने आयुध छोड़ कर न बैठता और गीता हमारे मध्य न होती, गीता का ज्ञान न होता। वह भी कृष्ण की इच्छा थी। भगवान उसको गीता का उपदेश देते हैं, जो ऐसी मानसिक स्थिति में अर्जुन को समझ नहीं आता। अन्ततः भगवान कृष्ण उसे अपनी दिव्य दृष्टि देकर अपना विराट रूप दिखाते हैं, जिसके दिग्दर्शन से अर्जुन समझ लेता है, कि यह समस्त भगवान की अपनी लीला है। इसमें क्या रहस्य है?

जब किसी मानव श्रेष्ठ का अपना मन ईश्वर के सम्मुख समर्पित हो जाता है, जैसा कि अर्जुन ने अपना मन एवं अपनी बुद्धि कृष्ण को समर्पित की है। इसका प्रमाण क्या है कि जब दुर्योधन और अर्जुन दोनों भगवान श्री कृष्ण से महाभारत के युद्ध से पहले सहायता लेने जाते हैं उस समय भगवान शयन कक्ष में लेटे होते हैं।। दुर्योधन उनके सिर की ओर तथा अर्जुन श्रद्धावश उनके चरणों की ओर बैठ जाता है। यह भी कृष्ण

लीला थी। भगवान उठते हैं और सर्वप्रथम उनकी दृष्टि अपने परम मित्र, नरश्रेष्ठ अर्जुन पर पड़ती है तत्पश्चात् दुर्योधन पर। उनसे पूछते हैं कि, आपका आगमन कैसे हुआ? आपको क्या सहायता चाहिए? एक ओर मेरी चतुरंगणी सेना होगी जो अजेय है और इन्द्र को भी जीत सकती है तथा दूसरी ओर मैं स्वयं निहत्था रहूँगा। प्राथमिकता अर्जुन की है, क्योंकि उसकी ओर मेरी दृष्टि पहले पड़ी है।' अर्जुन क्या माँगते हैं कि, 'प्रभु आप मेरे साथ आ जाइए।' जबकि दुर्योधन ने चतुरंगिनी सेना माँगी। अब इसका अर्थ क्या है कि अर्जुन ने श्रद्धावश अपने रथ की बागडोर उस निहत्थे कृष्ण को दे दी।

इसी प्रकार जब मानव इष्ट कृपा से, सद्गुरु कृपा से अपने जीवन की समस्त बागडोर, अपना मन एवं अपनी बुद्धि ईश्वर को श्रद्धा से समर्पित कर देता है, तो ऐसी परिस्थिति में यदि मानव बुद्धि कभी मोहवश, कामवश, क्रोधवश व अहम्वश भ्रमित भी हो जाए, तो दिव्य नियमों के अन्तर्गत भगवान को, स्वयं उसे अन्र्तदृष्टि देनी पड़ती है। जबकि दुर्योधन ने भगवान को अपना मन समर्पित नहीं किया था। तो ऐसी स्थिति में भगवान की स्वयं की चतुरंगी सेना भी अर्जुन का कुछ नहीं बिगाड़ सकी और अन्ततः वह विजयी रहा। **जब मानव की अपने इष्ट में श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा हो जाती है, तो वह अपनी बुद्धि एवं मन को अपने इष्ट के ही चरणों में समर्पित कर देता है। उस समय उसका अपना मन नहीं रहता। उसका अपना मन ईश्वरीय मन में समाहित हो जाता है और उसके बाद उसके जीवन का सम्पूर्ण संचालन स्वयं ईश्वर ही करते हैं। ऐसा ही दिव्य नियम है।**

मानस और सूक्ष्म जगत के अन्तर वर्णन कर रहे थे। यह जितना भी सम्पूर्ण जगत हम बाहर देखते हैं, जिसमें हमारी देह भी है, यह हमारे भीतर का बाह्य प्रगटीकरण है। जैसा कि वेदान्त दर्शन का यह निष्कर्ष है, कि ***जो ब्रह्माण्डे सो पिंडे***। **दृष्टा ही दृश्य है**। अपने भीतर का जगत हम बाहर देखते हैं, लेकिन उस जगत में हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता। यह सत्य है। वेदान्तिक दृष्टि से भी यह सत्य है। जब तक नियंत्रण नहीं है, तब तक वह ईश्वर द्वारा निर्मित सूक्ष्म जगत है। सूक्ष्म मानव बुद्धि ने चारों वेदों की रचना की। चारों वेदों ने चार महावाक्य लिखे हैं और अन्ततः नेति–नेति कह कर समर्पण कर दिया। न+इति अर्थात् जो हम वेद जानते हैं, यह अन्त नहीं है, यह इति

नहीं है। उसके बाद शुरू होता है **दर्शन**। जिसका नाम है **वेदान्त**, जहाँ वेदों का अंत हो गया। वेदान्त एक दर्शन है और इस दर्शन का अंत हुआ **दृष्टि दृष्टावाद** में, कि दृष्टा ही दृश्य है। यद्यपि यह रहस्य तो सत्य था, कि जो बाह्य जगत है, वह भीतरी जगत का बाह्य प्रगटीकरण है, लेकिन **मानव का उस बाह्य जगत पर चूंकि अधिकार नहीं था इसलिए वह ईश्वर का सूक्ष्म जगत था। जब इस पर अधिकार आ जाता है, जैसा कि हम वर्णन कर चुके हैं, तो वह बन जाता है–मानस।**

यह बहुत बड़ा अंतर मानस और सूक्ष्म जगत में है जो कि देखने में एक जैसा लगता है। जब तक उसके मुख्य पात्र का अपने सम्पूर्ण सूक्ष्म मण्डल पर अधिकार नहीं हो जाता, तब तक यह मानस नहीं होता। जैसे रामचरित मानस में सारी लीला पर राम का अधिकार है। राम द्वारा रचित है, राम द्वारा संचालित है, राम द्वारा प्रतिपादित है, राम द्वारा ही संपादित है। आनन्द में शुरू होती है, आनन्द में विचरती है और अन्ततः आनन्द में समाप्त होती है। किसी लीला का तीनों आनन्दों में विचरना अनिवार्य है। यदि एक आनन्द भी उसमें छूट रहा है, तो वह ईश्वरीय लीला नहीं हो सकती। इसी प्रकार कृष्ण लीला है, जिसमें प्रत्येक पात्र भले ही वह कोई दुष्ट हो या कोई महात्मा हो, वह समस्त उस कृष्ण द्वारा ही रचित है।

अन्त में एक उदाहरण आपके सम्मुख रखूँगा कि महाभारत के युद्ध से पहले जब भगवान श्री कृष्ण, दुर्योधन के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर जाते हैं, कि पाँचों पाँडवों को पाँच गाँव दे दो, तो दुर्योधन स्पष्ट 'न' कर देता है कि मैं एक सुई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दूँगा। भला विचारिए कि भगवान 'विष्णु' स्वयं जिसके सम्मुख खड़े हों और एक बहुत तुच्छ सी माँग करें और उसको दुर्योधन जैसा एक साधारण व्यक्तित्व क्या 'न' कर सकता है? अर्थात् यह भगवान श्री कृष्ण की स्वयं की ही इच्छा थी। तो इनकी भगवत सत्ता में, इनकी सामर्थ्य में यदि किसी को कोई संदेह है, तो वह उसकी बुद्धि के भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

जब मानव व्यष्टि से समष्टि में विचरने लगता है, तो उसके जीवन की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक श्वास, प्रत्येक पल, प्रत्येक क्षण, उसके समस्त विचार दूसरे मानवों के

लिए हो जाते हैं, सारे जगत के लिए हो जाते हैं। उसका जीवन एक दैदीप्यमान, प्रज्जवलित लौ की तरह होता है, जो कि आजीवन संसार को प्रकाश देती रहती है। स्वयं के लिए उसका कोई स्वार्थ अथवा इच्छा नहीं होती। यहाँ पर परोपकार शब्द भी बहुत छोटा पड़ जाता है। उनके स्वयं के हृदय में कोई पराया होता ही नहीं है और इतने आनन्दपूर्वक वे दूसरों के लिए कार्य करते हैं, मानो वह स्वयं के लिए ही कर रहे हो और वास्तविकता भी यही होती है। उनका स्वयं का मन–मस्तिष्क और उनकी देह इतनी वृहद् हो जाती है, कि उनके स्वयं के हृदय में दूसरेपन का या पराये का कोई भाव ही नहीं होता। ऐसे महापुरुष विरले ही होते हैं, जो समय–समय पर धरती पर अवतरित होते रहते हैं। मात्र, संसार के कल्याण के लिए ही आते हैं और उनके संसार के प्रस्थान के बाद भी युग–युगों तक मानव एवं मानवता उनका स्मरण करती है। उनको नत् मस्तक होती है। उनके बताये हुए पद चिन्हों पर चलती है और अपना कल्याण करती है। इन महामानवों की देह इतनी वृहद होती है, इतनी विस्तृत होती है, कि उनके संसार को उन्हीं का मानस नियंत्रित करता है। वह सूक्ष्म देह न रह कर एक मानस हो जाता है, जिसका नियंत्रण एवं संचालन उनकी स्वयं की इच्छा से होता है और वह ईश्वर तक सीधे सम्पर्क करने में सक्षम होते हैं। महापुरुष नित नूतन होते हैं। हर क्षण, हर पल, नया जन्म लेते हैं और ईश्वर ऐसे महापुरुषों को खिलाने के लिए हर क्षण नई योजनायें बनाते हैं। हर पल नई लीलायें होती हैं। सब कुछ आनन्द में, आनन्द से और आनन्द तक।

इस प्रकार ऐसे मानव द्वैत में अद्वैत एवं अद्वैत में द्वैत रूप में खेलते हैं, लीलायें करते हैं। उनका हृदय, उनका मन एवं मस्तिष्क सदा परमात्मा में लीन रहता है। एक विशुद्ध एवं आनन्दमय परिवर्तन के लिए वे स्वयं ही एक से अनेक होकर भिन्न–भिन्न रूपों में, नामों में खेलने लगते हैं। उनका एक नाम एवं रूप उस लीला के समय असंख्य नामरूपों में बँट जाता है। समस्त नाम और रूप भिन्न–भिन्न कार्य करते हैं, भिन्न–भिन्न वृत्तियों एवं भावनाओं के साथ जुड़ जाते हैं। लेकिन वास्तव में देखा जाए तो यह एक ही वृहद् देह होती है। इसलिए ऐसे लोगों को महामानव या महापुरुष कहा जाता है। वे साधारण स्तर के व्यक्ति नहीं होते। इस संसार में उनको ईश्वरीय शक्तियों

द्वारा लाए जाने का कुछ विशेष उद्देश्य होता है, जिसकी पूर्ति के बाद वही शक्तियों उनको संसार से वापिस ले जाती है। तो हमें सत्संग द्वारा, ध्यान द्वारा, चिंतन द्वारा गहन दृष्टि से ऐसे महामानवों का जीवन सूक्ष्मता से अध्ययन करना चाहिए। इनका जीवन बड़ा प्रेरणादायक होता है। उन प्रेरणाओं के अन्तर्गत हमें अपने जीवन को ढालना चाहिए। ऐसे महामानवों के जीवन की एक सूक्ष्म सी बात, एक छोटी सी घटना और उस घटना से मिली हुई सीख आपके समस्त जीवन को परिपक्व एवं उत्सुक बना सकती है। महामानव का हँसना, गम्भीर होना, रुदन करना एवं उनकी प्रत्येक क्रिया के पीछे कुछ न कुछ महाअर्थ होता है, एक सार्थकता होती है जबकि एक साधारण व्यक्ति भले ही वह कितनी भी भौतिक वस्तुओं से सुशोभित हो, उसके जीवन में कोई भी सार्थकता नहीं होती। बल्कि, गहन रूप से चिंतन किया जाए, तो भौतिक जगत में न केवल निरर्थकता है, बल्कि नकारात्मकता भी है। यदि हम जीवन के एक–एक क्षण को एवं एक–एक पल को आनन्दपूर्वक जीना चाहते हैं, तो इसको ईश्वर के निमित्त करते हुए चलें, कि "मेरे द्वारा जो भी करवा रहे हैं, आप ही करवा रहे हैं, क्योंकि यह देह भी आप ही के द्वारा निर्मित है संचालित है पालित है और अन्ततः इसका संहार भी आप ही की इच्छा से होगा।"

।। जय जय श्री राम।।

आनन्दमय मृत्यु

आज आपके सम्मुख जो विषय रखने जा रहा हूँ, इसका नाम है **आनन्दमय मृत्यु**। बहुत विचारणीय विषय है। ईश्वर ने कोटि–कोटि ब्रह्माण्डों में जितना भी, प्राणी जगत का निर्माण किया है, सभी में तीन वस्तुएँ परम आवश्यक हैं, **जन्म, जीवन एवं मृत्यु**। चूंकि ईश्वर स्वयं में सच्चिदानन्द है, तो उनका विधान ऐसा है कि अक्सर ये तीनों जन्म, जीवन और मृत्यु आनन्दमय ही होते हैं। तो विचार का विषय यह है कि मानव कोटि में आकर यदि जन्म को अक्सर हर्षोल्लास से मनाया जाता है, तो उसके बाद शुरू होने वाला जीवन और अन्ततः मृत्यु जो कि एक निश्चित कर्म है, वह आनन्दमय क्यों नहीं मनाये जाते? इस कलिकाल में इस विषय पर विचार होना परमावश्यक है।

संसार में आप किसी भी मानव से पूछिये, कि क्या उसको अपना जन्म याद है? उसके जन्म के समय उसने भले ही कितने कष्ट सहे हों, लेकिन किसी को भी अपने जन्म की स्मृति नहीं होती। उन कष्टों का कोई लेखा–जोखा उसके मस्तिष्क में नहीं होता अर्थात् **जन्म आनन्दमय है**। कष्ट वह है जिसको हम कष्ट मानते हैं और जब तक उसकी मान्यता नहीं है तब तक सुख और दुख का कोई महातम् नहीं है। अति समाधि में या तुरीया अवस्था में जब मानवीय मन ईश्वर मन में समाहित हो जाता है, तो सुख और दुख उसी समय समाप्त हो जाते हैं। मात्र आनन्द रह जाता है जो एक अनुभूति का विषय है। अर्थात् **जब जन्म की हमको स्मृति नहीं है, तो निश्चित है कि जन्म अवश्य आनन्दमय रहा होगा।** सुषुप्ति अवस्था से जागने के बाद यदि किसी व्यक्ति को उसकी स्मृति नहीं है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह प्रगाढ़ निद्रा में सोया है और उसकी निद्रा अवश्य आनन्दमय रही होगी। लेकिन आज के जगत में विज्ञान जिस प्रकार तथाकथित उन्नति कर चुका है व मानव मस्तिष्क का जिस प्रकार विकास हो चुका है, तो मानव ने अपने बौद्धिक हस्तक्षेप से जन्म जीवन और मृत्यु इन तीनों को कष्टमय बना दिया है। जैसे ही माता गर्भवती होती है, तो चिकित्सकों के पास उसके चक्कर लगने शुरू हो जाते हैं। छोटे से शारीरिक कष्ट के लिए विभिन्न प्रकार की रासायनिक औषधियों का सेवन कितना घातक सिद्ध होता है, स्वयं माँ के लिए और

पेट में पलने वाले शिशु के लिए, इसका अनुमान लगाना बहुत कठिन है। अक्सर आज देखा गया है कि 40 प्रतिशत शिशुओं का जन्म असमान्य होता है। जितने अधिक तथाकथित धनवान और साधन सम्पन्न लोग हैं, उनके घरों में किसी नवजात शिशु का जन्म उतना ही कष्टमय हो जाता है, अनावश्यक दवाईयों के प्रभाव से और अन्य बौद्धिक एवं मानसिक कारणों से। जीवन काल में भी अधिकतर कष्ट बौद्धिक हस्तक्षेप से होते हैं। यदि हम गहनता से विचार करें, तो मृत्यु एक बहुत आनन्दमय पटाक्षेप है।

जिस प्रकार कि किसी महानाट्यशाला मे होने वाले नाटक का अन्ततः पर्दा गिरता है, उसी प्रकार वर्षों तक जब कोई मानव जीवन व्यतीत कर लेता है, उसके पश्चात् मृत्यु का आना अति आवश्यक है और निश्चित् भी। इस मृत्यु के विषय पर मैं जो आध्यात्मिक विचार आपके सम्मुख रख रहा हूँ, ये अति–अति विचारणीय है। आज मृत्यु के नाम पर जो नाटक होते हैं, उनका क्या भयानक प्रभाव होता है। संसार से विदा होने वाले पर और उसके सगे–सम्बन्धियों पर, यह जानना अति आवश्यक है। जिस प्रकार कि दिनभर थके हुए किसी व्यक्ति को रात में सोने के समय कोई रह–रह कर तंग करे तो वह तनावित हो जाता है, व्यथित एवं दुखी हो जाता है। निद्रा की तरह मृत्यु को भी ईश्वर ने एक निश्चित आनन्दमय अन्त बनाया है, परन्तु उसको आज की चिकित्सा और उस व्यक्ति के सगे–सम्बन्धियों का हस्तक्षेप बहुत कष्टमय कर देता है। आज यह ज्वलन्त विषय है। किस प्रकार एक प्राकृतिक और एक आनन्दमय क्रिया को अप्राकृतिक और विक्षिप्त बना दिया जाता है। ऐसे समय में अज्ञानवश, अक्सर सगे–सम्बन्धी इस प्रकार आचरण करते हैं कि जैसे मृत्यु कोई अप्राकृतिक घटना है। जैसे किसी को यहाँ मरना नहीं चाहिए। इस समय सबका और विशेषकर सगे–सम्बन्धियों के मानसिक आचरण का एक निश्चित प्रभाव उस व्यक्ति पर पड़ता है, जो आनन्दमय प्राण त्यागना चाहता है। हमारे प्राचीन इतिहास में या परम्पराओं में जाइये तो मृत्यु के समय में व्यक्ति को पृथ्वी पर लेटा दिया जाता था और वहाँ पर सत्संग, गीता या रामायण इत्यादि का पाठ होता था। सब लोग शांत होकर उसके लिए प्रार्थना करते थे और इस प्रकार एक दिव्य और आनन्दमय अन्त हो जाता था। लोग यह नहीं जानते कि ऐसे समय में जरा सी भी विक्षिप्तता उस प्राणान्त होने वाले व्यक्ति को न जाने किस घोर नरक में पहुँचा

देगी। न जाने उसकी क्या दुर्गति हो जायेगी। इस पर आज विचार होना बहुत आवश्यक है। **सकाल और अकाल मृत्यु क्या है?** सद्गति और दुर्गति क्या है? इसका थोड़ा बहुत ज्ञान आप सबको होना चाहिए।

भले ही कोई युवावस्था में संसार से विदा हो जाये, मेरे शब्दों में **सकाल मृत्यु वह है, जब मनुष्य की समस्त आकाक्षाएँ और महत्वाकांक्षाएँ समाप्त हो जाती हैं।** जब उसको संसार की सत्यता का भास हो जाता है। उसका सम्बन्ध अपने सगे–सम्बन्धियों से हट जाता है और उसको जन्म और मृत्यु में कोई अन्तर नहीं लगता। यदि किसी के मानसिक क्रिया–कलाप और वृत्तियाँ संसार में उलझी हुई है, अपने सगे–सम्बन्धियों में उसका मन व मस्तिष्क लिप्त है एवं यदि उसकी कुछ आकांक्षायें व महात्त्वाकांक्षायें शेष हैं तो भले ही वह 200 वर्ष की आयु में शरीर त्यागे, तो भी अकाल मृत्यु है। ऐसे व्यक्ति की कभी भी सद्गति नहीं होती। मृत्यु के बाद किसी व्यक्ति की क्या स्थिति है, उसको कोई नहीं जानता। उस समय उसके बाद जो सगे–सम्बन्धी हैं, उनकी मानसिक स्थिति से उस व्यक्ति की सद्गति अथवा दुर्गति का ज्ञान हो जाता है। अति घनिष्ठतम् सगे–सम्बन्धियों की यदि मानसिक स्थिति विक्षिप्त हो जाती है, तो समझिये उस व्यक्ति की दुर्गति हुई है।

अब यहाँ पर यह विचार का विषय है, कि इस दुर्गति का और मानसिक विक्षेप का अर्थ क्या है? यदि जन्म है तो मृत्यु भी नितान्त, परम एवं अकाट्य सत्य है। इसको नकारा नहीं जा सकता और इससे अपनी दृष्टि को ओझल भी नहीं किया जा सकता। **यदि किसी सगे–सम्बन्धी की मृत्यु के बाद स्वार्थवश और उस पर किसी प्रकार की निर्भरतावश कोई व्यक्ति विक्षिप्त हो जाये, तो दुर्गति उस व्यक्ति की है जो जीवित है। दुर्गति उसकी नहीं है जो मर चुका है।** लोग कहाँ–कहाँ उसकी सद्गति के लिए जाते हैं। कोई पिंडदान करता है, कोई पूजा–पाठ करवाता है, कोई कुछ अन्य करता है, लेकिन सत्य यह है कि यदि पीछे छूटे सगे–सम्बन्धियों को मानसिक विक्षेप हो गया, तो दुर्गति उन्हीं की है। अतः **किसी मृतक की सद्गति का मापदंड उसके सगे–सम्बन्धियों की मानसिक स्थिति से किया जा सकता है।** यह एक नई बात आपके सम्मुख रख रहा हूँ। जिस व्यक्ति को किसी मृतक व्यक्ति

से कुछ लेना–देना ही नहीं था, उनके लिए तो उनकी सद्गति और दुर्गति का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। मैं पुनः दोहराता हूँ कि किसी मृतक व्यक्ति की सद्गति अथवा दुर्गति का माप–दंड उसके पीछे छूटे हुए सगे–सम्बन्धियों की मानसिक स्थिति पर निर्भर करता है कि वह आनन्दमय है अथवा विक्षिप्त?

हमारी भारतीय संस्कृति में पिंडदान का महातम् है। यह पिंडदान क्या है? पौराणिक परम्पराओं के अनुसार किसी भी मृतक व्यक्ति का पिंडदान करने के बाद यह मान लिया जाता है कि उसकी गति हो गई लेकिन अक्सर उसके घनिष्ठ सम्बन्धी उसकी याद में उदास रहते हैं। यदि अति विचारपूर्वक सोचा जाये, तो **हम उस मृतक व्यक्ति को याद नहीं करते। हम अपने उस स्वरूप को याद करते हैं, जिसने कभी उस व्यक्ति के साथ उसके जीवनकाल की कुछ आनन्दमय या दुःखमय घड़ियों बिताई हैं।** तो पिंडदान किसका किया जाये? यहाँ पर भी संशोधन होना बड़ा आवश्यक है, कि क्यों न **अपने उस स्वरूप का पिंडदान किया जाये, जो कभी उस मृतक व्यक्ति के साथ सम्बन्धित था, जो इस समय नहीं है।** तो शायद ऐसे पिंडदान से तुरन्त कुछ लाभ हो। इष्ट कृपा से जो विशिष्ट और सत्य विचारधारा है, वह मैं आपके सम्मुख रख रहा हूँ।

कहा जाता है कि घर में एक भी पुत्र यदि महात्मा हो, उच्च मानसिक स्थिति का हो, आध्यात्मिक हो तो अपने माता–पिता की सद्गति करने में सक्षम होता है। उसके पीछे क्या रहस्य है? मृत्यु के समय बहुत हो–हल्ला नहीं होना चाहिए। इसको शरीर का धर्म समझ कर इसका आदर होना चाहिए और हमारी पौराणिक परम्पराओं के अनुसार उसका निर्वाह होना चाहिए। इस प्रकार शान्त वातावरण में ऐसे व्यक्ति को पृथ्वी पर आसन दे दिया जाता है। अग्नि साक्षी के रूप में वहाँ दिया जला दिया जाता है। गीता या अन्य धर्म ग्रन्थों का पाठ होता है। ताकि उस वातावरण में परमाणु शुद्ध हो जाये। जब किसी मानव को, प्राणी को पृथ्वी पर लिटाया जाता है, तो प्राण गतियाँ स्वतः उर्ध्व हो जाती हैं। हर चीज़ को वैज्ञानिक मस्तिष्क से नहीं सोचा जा सकता। मैं वैज्ञानिकों से प्रश्न करता हूँ कि विज्ञान क्या है? उत्कृष्ट मानव बुद्धि का बाह्य प्रगटीकरण है विज्ञान। आप मेरी बात से सहमत होंगे, लेकिन बुद्धि किसका प्रगटीकरण है? इसका निर्माता

कौन है? अर्थात कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जो समस्त सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का नियंत्रण करती है, उसका निर्माण, पालन एवं संहार करती है। यह मानव बुद्धि का विषय ही नहीं है। महापुरुषों ने कहा है– ***'हानि लाभ जीवनु मरनु जसु अपजसु विधि हाथ'।***

इन विशिष्ट जीवन की घटनाओं बहुत ज्यादा बौद्धिक हस्तक्षेप मानव के लिए और उसके सगे–सम्बन्धियों के लिए अवश्य घातक हो जाता है। परिणाम स्वरूप उस मानसिक विक्षेप से आज सारा संसार और विशेष करके पाश्चात्यानुगमन करने वाले अति बुद्धिजीवी एवं धनवान लोग पीड़ित हैं।

प्रकृति से हम लड़ नहीं सकते। यदि हम प्रकृति का सम्मान करते हैं, तो प्रकृति हमारा सम्मान करती है। यदि कोई व्यक्ति जिसकी मृत्यु निश्चित है और वह खाना बन्द कर देता है, तो मत लगाइये उसको नाक में नलियाँ। वह प्रेत योनि में जायेगा। उसकी अधोगति हो जायेगी। मुख में थोड़ा गंगाजल या तुलसी दल, जो रखा जाता था, उसका एक विशेष महातम था कि जैसे–जैसे जीव का खाना बन्द कर दिया जाता है, तो उसकी मानसिक स्थिति शान्त होते–होते अन्ततः वह आनन्द में मृत्यु को प्राप्त होता है। यह एक नितान्त सत्य है।

वृद्धावस्था में मृत्यु के आनन्दमय स्वरूप को तथाकथित **जीवन वृद्धि** के नाम पर बौद्धिक हस्तक्षेप से बचाने के लिए एक समूह चाहिए। जिसमें वे चिकित्सक भी हैं, जो निस्वार्थी हों और कुछ विशिष्ट धार्मिक व आध्यात्मिक लोग आगे आयें कि जो समाज को इस अन्तिम सत्य से अवगत करायें कि यदि जन्म हुआ है, तो मृत्यु भी अवश्य होगी। उसमें कोई हस्ताक्षेप नहीं होना चाहिए। आप पिछले प्रत्येक दशक की स्थिति ले लीजिए। आज मृत्यु तो क्या जन्म भी कठिन होता जा रहा है। कुछ वर्षों पहले अक्सर जन्म के समय किसी भी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती थी और आज हर तीसरा बच्चा आप्रेशन से पैदा होता है। ऐसा क्यों है? इसके पीछे है अप्राकृतिक साधनों का पालन एवं अतिशय अप्राकृतिक जीवन। यह एक बहुत ज्वलन्त विषय है।

महापुरुषों ने जीवन में चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। यदि हम जीवन को सौ वर्ष का मान कर चलें, तो प्रथम **25 वर्ष ब्रह्मचर्य**, जिस अवस्था में कोई भी युवा व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों का निर्माण करता है, उत्थान एवं विकास करता है। उसके बाद

अगले 25 वर्ष **गृहस्थाश्रम** जिसमें उत्तम पारिवारिक व सांसारिक कार्य करते हुए तपोमय जीवन बिताना, जो कि बहुत कठिन कार्य है। विवाह के 25 वर्ष बाद अर्थात् 50 वर्ष की आयु के पश्चात् **वानप्रस्थ** और उस वानप्रस्थ में अपने सांसारिक कार्यों से मुक्ति, स्वतन्त्र मन से सत्य प्राप्ति, ईश्वर चिंतन और अपने अनुभवों का संसार में निस्वार्थ भाव से वितरण का नियम है। इस प्रकार 75 वर्ष की आयु के बाद **संन्यास**। लेकिन यह प्रणाली बहुत प्रभावशाली नहीं है। पहले तो किसी व्यक्ति का 100 वर्ष तक जीना निश्चित नहीं है। अतः जीवन में एक निश्चित समय पर जाकर हमें अपने गृहस्थ से वैराग लेना चाहिए। गृहस्थ से, दैहिक रूप से नहीं तो मानसिक रूप से परे होना आवश्यक है। **यह एक प्रकार का अपने अन्त के लिए मन बनाना है।**

मृत्यु अवश्यभावी है। इसके लिए हमें एक विशेष अवस्था के बाद अपने सांसारिक व्यवहार को शनैः शनैः कम करना अति आवश्यक है। अपनी परम्पराओं को मानना है। मैं अपनी परम्पराओं को बार–बार इसलिए कह रहा हूँ, कि इन परम्पराओं को हमें पुनर्जीवित करना चाहिए, यदि हम आनन्दपूर्वक जीवन बिताना चाहते हैं। इनके अनुसार जब अपना पुत्र युवा हो जाता था तो राजे–महाराजे उसको अपना राज–पाठ सौंप देते थे, व्यापारी उसको अपना व्यापार सौंप देते थे, शिक्षक उसको उचित शिक्षा देकर अपना पद सौंप देते थे। तो इस प्रकार 50 वर्ष की आयु के करीब जाकर व्यक्ति को अपने गृहस्थ के कार्यों से विमुक्त हो जाना चाहिए, वरना उसका अन्त अच्छा नहीं होता। वैसे तो जीवन के अगले क्षण का भी कोई भरोसा नहीं है, लेकिन यदि हम एक व्यवहार मानकर चलें, तो भी हमें एक निश्चित आयु के बाद अपना व्यवहारिक क्षेत्र, वैचारिक क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र और अन्य जितने भी भौतिक क्षेत्र हैं उनसे विराम, उनका नियंत्रण, उनका संकुचन और उसके बाद अपने आध्यात्मिक क्षेत्र का विस्तार अति आवश्यक है। यही पर मैं आपको यह बहुत स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि भौतिक देह के संकुचन के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र का विकास ऐसा कोई नियम नहीं है। अपना व्यवहारिक जीवन बिताते हुए यदि हमारी बुद्धि व हमारा मन आध्यात्मिक जगत में प्रवेश कर जाये, चाहे वह जीवन की कोई भी अवस्था हो, उस समय हमारा समस्त भौतिक जगत तुरन्त आध्यात्मिक हो जाता है।

अक्सर लोग समझते हैं कि हम बुढ़ापे में जाकर ईश्वर का नाम ले लेंगे, जो लिया नहीं जा सकता। यदि हमें ईश्वर सत्ता को मानना है, उसका सान्निध्य पाना है व उसका दिग्दर्शन करना है, तो होश संभालते ही हमको प्रयत्न करना होगा, प्रार्थना करनी होगी। सत्संग करना पड़ेगा। सद्‌गुरु धारण करना पड़ेगा और संतों का सान्निध्य करना होगा। यह धारणा कि बुढ़ापे में हम ईश्वर का नाम ले लेंगे, यह बहुत निरर्थक है। ईश्वर हमारा विशुद्धतम् स्वरूप है। ईश्वर सच्चिदानन्द है। जिसका मैं कई बार वर्णन कर चुका हूँ। जब हम इस परम सत्य का दिग्दर्शन कर लेते हैं या उसका सानिध्य पा लेते हैं, उसके बाद जन्म, जीवन और मृत्यु का कोई महात्म्य नहीं रहता। जिस प्रकार कोई सन्तोषी मानव अपना सम्पूर्ण दिन आनन्द में बिताता है, आनन्द में ही रात को सोता है और आनन्द में ही अगली सुबह वह भगवान का नाम लेता हुआ उठता है, उसी प्रकार महापुरुष इस धरा पर आनन्द में ही अवतरित होते हैं, आनन्द में जीवन जीते हैं और आनन्द में ही चोला बदल देते हैं। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पल, प्रत्येक श्वास एवं प्रत्येक प्राणगति आनन्दमय होती है। यही परम सत्य है। अन्त में मैं इस सम्पूर्ण प्रकरण का संक्षेप में आपके सम्मुख वर्णन करूंगा, कि यदि जन्म सत्य है, तो मृत्यु भी नितान्त सत्य है। उसके लिए बहुत हो–हल्ला नहीं होना चाहिए। इस अकाट्य प्रकृति के नियम को आनन्दपूर्वक शिरोधार्य करना चाहिए। अपने धन के और विज्ञान के बल से उसमें बहुत हस्तक्षेप ठीक नहीं है। तो हम आनन्दपूर्वक जन्म लेकर, आनन्दपूर्वक जीते हुए अन्ततः ईश्वर इच्छा से मृत्यु को भी आनन्दपूर्वक ही स्वीकार करना चाहिए।

।। जय जय श्री राम।।